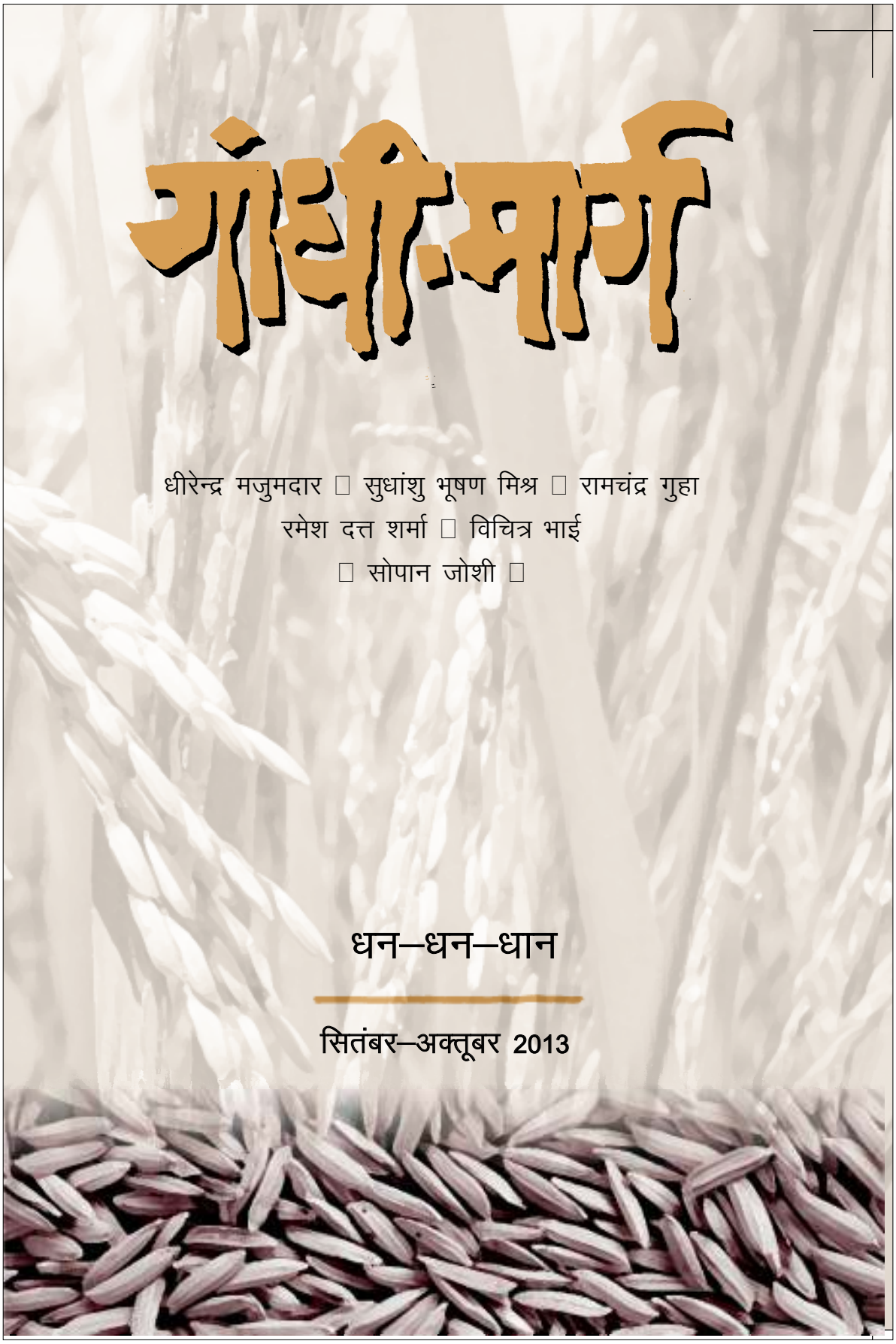

धीरेन्द्र मजुमदार □ सुधांशु भूषण मिश्र □ रामचंद्र गुहा
रमेश दत्त शर्मा □ विचित्र भाई
□ सोपान जोशी □

धन–धन–धान

सितंबर–अक्तूबर 2013

सृजन स्मरण

"जो नहीं हो सके पूर्ण काम
मैं उनको करता हूँ प्रणाम।
जिनकी सेवाएँ अतुलनीय
पर विज्ञापन से रहे दूर
प्रतिकूल परिस्थिति ने जिनके
कर दिए मनोरथ चूर-चूर!
उनको प्रणाम!"

नागार्जुन

(1911–1998)

दिल्ली सरकार
टीम दिल्ली – स्वप्न को साकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 55, अंक 5, सितंबर-अक्तूबर 2013

गांधी शांति प्रतिष्ठान

1. संघ नहीं संग	धीरेन्द्र मजूमदार	3
2. अपने ही आंगन में पराए	सुधांशु भूषण मिश्र	10
3. रावणा तोंडी रामायण	अनुपम मिश्र	19
4. बंदूक की नली से शांति नहीं निकलती	रामचंद्र गुहा	24
5. उर्वरता की हिंसक भूमि	सोपान जोशी	29
6. धन-धन-धान्य	रमेशदत्त शर्मा	37
7. **पुराना चावलः**		
प्रलय का शिलालेख		47
8. **पोथी पढ़ि पढ़िः**		
जब हम चौदह तारीख को मिलेंगे	विचित्र भाई	52
9. **टिप्पणियां**		59
10. **पत्र**		61

वार्षिक शुल्क : भारत में 100 रुपए, दो वर्ष का 190 रुपए, आजीवन-500 रुपए (व्यक्तिगत), 1000 रुपए (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य बीस रुपए, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें।

संपादन : अनुपम मिश्र, सज्जा : दिलीप चिंचालकर, प्रबंध : मनोज कुमार झा

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2 के लिए अनुपम मिश्र द्वारा प्रकाशित
फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, फैक्स : 011-2323 6734
Email: gmhindi@gmail.com

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस, 2810 गली माता वाली, चांदनी चौक, दिल्ली-06, फोन नं.011-23264968

संघ नहीं संग

धीरेन्द्र मजूमदार

धीरेनदा सन् 1920 में गांधीजी के असहयोग आंदोलन में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़कर आए थे। समय की कसौटी पर खरे उतरे गांधी-अनुयायियों में उनका एक ऊंचा स्थान था। उन्होंने बड़ी संस्थाएं भी खड़ी कीं पर बाद में उन्हें 'गुड़िया घर' कह कर छोड़ दिया था। सर्वोदय में वे बस एक 'मिस्त्री' की तरह प्रसिद्ध हुए। लेकिन इस शास्त्री की बातें हमें दूर तक ले जाती हैं।

मैं हमेशा कहता रहता हूं कि बनी-बनाई संस्था द्वारा क्रांति नहीं हो सकती है। हां क्रांति का उद्घोष जरूर हो सकता है वहां से। क्रांति तभी हो सकती है, जब जिसे क्रांति चाहिए, वह उसकी पहल करे। यह सत्य है कि हमने कुछ लोगों के साथ स्नेह-संबंध स्थापित किया है और उनसे अपने काम में सहकार लिया है। लेकिन मैं उस सहकार को क्रांति की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं देता हूं। हमारे काम की तूफानी रफ्तार के कारण उनका सहकार भी देखने में उत्साहवर्धक रहा है। लेकिन क्रांति के लिए इस स्थिति को पूंजी के रूप में इस्तेमाल करना कठिन है।

अभी तक हम लोगों ने जो काम किया है, वह केवल क्रांति के उद्घोष के लिए ढोल-पिटाई का काम है। हम लोग जिसे निष्पत्ति मानते हैं, वह उसी तरह से भ्रम है, जिस तरह कुआं खोदते समय पांच-छह फुट के बाद पानी देखकर लोग समझने लगें कि हम कुएं की सतह पर पहुंच गए हैं! अगर हम कुछ निष्पत्ति देखना चाहते हैं, तो हम सबको इस काम में अपनी हड्डी गलानी होगी।

सन् 1955 में विनोबाजी की उड़ीसा-यात्रा के दरम्यान हमारा आंदोलन भूदान से ग्रामदान की ओर मुड़ने लगा था। उसी समय से विनोबाजी के दिमाग में क्रांति की प्रक्रिया के बारे में चिंतन चलने लगा था। और अगले साल

कांचीपुरम् सम्मेलन के अवसर पर हम लोगों से उन्होंने यह कहा कि आप सब क्यों न क्रांति का एक नाटक कर डालें? उस नाटक के स्वरूप के बारे में यह संकेत किया कि हम सर्व-सेवा-संघ की संस्था को समाप्त कर दें। कार्यकर्ता अपने क्षेत्र में फैलें और जन-जन में क्रांति को फैलाने का प्रयास करें। आगे चलकर सर्व-सेवा-संघ ने अपने निवेदन में देश की कोटि-कोटि जनता से अपील की कि वह इस क्रांति को अपने हाथों में उठा ले ताकि देश की संकटपूर्ण समस्याओं का समाधान हो सके।

हिंसा और अहिंसा की सेना में सेनापति का स्वधर्म अलग-अलग होता है। हिंसा की सेना में सेनापति आदेश देता है। वहां उस आदेश की अवहेलना होने पर दंड दिया जाता है। लेकिन अहिंसा का सेनापति संकेत भर करता है और संकेत की अवहेलना हुई तो सिपाही को स्वतंत्र विचार के लिए छोड़ देता है। और वह विचार तब तक समझाता रहता है, जब तक वह उसे स्वीकार कर उस पर अमल करना प्रारंभ नहीं कर देता।

फिर विनोबाजी की प्रेरणा से सर्व-सेवा-संघ ने तंत्रमुक्ति और निधिमुक्ति तथा सर्वजनाधार का प्रस्ताव किया। लेकिन दुर्भाग्य से हम लोग इस विचार के अमल के प्रयास में असफल हुए। इतना ही नहीं, उसका प्रयास भी नहीं किया और न मार्ग खोजने की दिशा में कोई गंभीर चर्चा ही की। आंदोलन की सारी गतिविधियां पूर्ववत् तंत्रबद्ध तथा निधि-आधारित ही चलती रहीं, यद्यपि वह निधि पूर्ण रूप से पुरानी संचित निधि ही नहीं रही, बल्कि कभी-कभी केंद्रीय स्तर पर कोष इकट्ठा करने के रूप में भी रही। कुल मिलाकर क्रांति की प्रक्रिया की पद्धति में हम कोई अंतर नहीं ला सके।

तब से आज तक उस प्रश्न पर हम लोग आपस में रह-रहकर चर्चा जरूर करते हैं। लेकिन उस दिशा में कभी किसी किस्म के प्रयोग में नहीं लगे। अगर विनोबा तीव्रता के साथ आग्रह करते और इसके लिए अड़ जाते तो शायद कुछ अवश्य होता।

लेकिन हम सबको यह अवश्य समझना चाहिए कि विनोबा जिस क्रांति की देश को प्रेरणा दे रहे हैं, वह अहिंसक क्रांति है। हम अपने को सिपाही और विनोबा को सेनापति मानते रहे हैं। लेकिन हिंसा और अहिंसा की सेना में सेनापति का स्वधर्म अलग-अलग होता है। हिंसा की सेना में सेनापति आदेश देता है। वहां उस आदेश की अवहेलना होने पर दंड दिया जाता है। लेकिन अहिंसा का सेनापति संकेत भर करता है और संकेत की अवहेलना हुई तो सिपाही को स्वतंत्र विचार के लिए छोड़ देता है। और वह विचार तब तक समझाता रहता है, जब तक वह

उसे स्वीकार कर उस पर अमल करना प्रारंभ नहीं कर देता।

हिंसक क्रांति स्थूल तत्व पर कब्जा करने की होती है लेकिन अहिंसक क्रांति विचार तथा हृदय-परिवर्तन की होती है। इसके परिणाम से समाज के मूल्य तथा पद्धति में परिवर्तन सधता है। इसलिए अपना विचार सफाई से कह देने के बाद विनोबाजी के लिए यह स्वाभाविक था कि वे आंदोलन की गतिविधि के प्रकार का निर्धारण करने की जिम्मेदारी हमारे ऊपर छोड़ देते।

आखिर हम जो क्रांति की बात करते हैं, वह क्या चीज है? क्रांति का अर्थ है प्रचलित मूल्य, मान्यता तथा पद्धति के बदले एक नया मूल्य, मान्यता तथा एक नई पद्धति का अधिष्ठान करना। समाज में प्रचलित मूल्य यह है कि विशिष्ट जन के सहारे ही सामान्य जन चलें। प्रचलित सिद्धांत यह है कि समाज का सारा कार्यक्रम संचालन-पद्धति से चले। प्रचलित मान्यता यह है कि समाज का संतुलन दंड-शक्ति से हो।

हमारी क्रांति इस परंपरा को बदलकर सामान्य जन के सहारे समाज के फंक्शन चलाने की है। हम संचालन-पद्धति को बदलकर सहकार-पद्धति का अधिष्ठान करना चाहते हैं और हम चाहते हैं कि समाज के संतुलन की रक्षा दंड-शक्ति के बदले सम्मति-शक्ति से हो।

समाज में प्रचलित मूल्य यह है कि विशिष्ट जन के सहारे ही सामान्य जन चलें। प्रचलित सिद्धांत यह है कि समाज का सारा कार्यक्रम संचालन-पद्धति से चले। प्रचलित मान्यता यह है कि समाज का संतुलन दंड-शक्ति से हो।

साध्य और साधन की एकरूपता की रक्षा अगर नहीं होती तो साध्य भी साधन की दिशा में मुड़ने लगेगा– यह बात हमने गांधीजी से सीखी है। हम लोग आए दिन गांधी-विचार के प्रचार में इसे दुहराते भी हैं। लेकिन हम लोग अपने कार्यक्रम को विशिष्ट जन-आधारित तथा संस्थागत और व्यक्तिगत संचालन-पद्धति से चलाते रहते हैं। हम बात तो करते हैं सहकार-पद्धति की और अपने मन में मानते भी हैं कि हमारा काम संचालन-पद्धति से नहीं, सहकार-पद्धति से चल रहा है। साथ-साथ हम यह भी मानते हैं कि हमारा काम भी विशिष्ट जन के संचालन में नहीं, बल्कि गणसेवकत्व के सहारे चल रहा है। लेकिन अगर हम गहराई से विचार करेंगे तो समझ में आएगा कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह संचालन-प्रक्रिया ही है, चाहे उसके अमल में कहीं-कहीं ढिलाई बरती जा रही हो।

संचालन के कार्यक्रम में संचालक की ओर से साधारण कार्यकर्ताओं पर स्वतंत्र निर्णय का अधिकार देना काफी नहीं है। वह संचालन की कुशलता मात्र

है। अगर हम संचालन पद्धति को समाप्त करते हैं, तब संचालन के प्रतिष्ठानों और संस्थाओं को ही विसर्जित करना होगा। आज हम बात-बात में जो कहते हैं कि समन्वय के लिए कुछ केन्द्र रहना ही चाहिए, वह संचालन के संस्कार की ही अभिव्यक्ति मात्र है। हम अपने विचार के प्रति निष्ठा जरूर रखते हैं, लेकिन प्राचीन काल की परंपरागत संचालन-पद्धति और पाश्चात्य देशों से प्राप्त केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का संस्कार हमें रह-रहकर अपनी ओर खींच लेता है।

हम कभी-कभी यह भी कहते हैं कि तंत्रमुक्ति और निधिमुक्ति का विचार तो हवाई कल्पना है। लेकिन समझना चाहिए कि इसी भारत देश में काफी लंबे अरसे से व्यापक पैमाने पर तंत्रमुक्त क्रियाशीलता का सफल प्रयोग हो चुका है। उसका एक महान उदाहरण यह है कि देशभर के उच्च कोटि के विचारक कुंभ मेला में मिलते थे और आपस में चर्चा कर विचार-मंथन करते थे। वहां से विचार की व्यापकता को ग्रहण करके अपने-अपने क्षेत्रों में वापस जाते थे। वहां अपने विचार के अनुसार काम करते थे। विनोबाजी ने भी 1948 के प्रथम रचनात्मक सम्मेलन में सर्वोदय-समाज की जो कल्पना रखी थी, वह भी इसी दिशा की ओर संकेत करता था।

हम लोग अपने कार्यक्रम को विशिष्ट जन-आधारित तथा संस्थागत और व्यक्तिगत संचालन-पद्धति से चलाते रहते हैं। हम बात तो करते हैं सहकार-पद्धति की और अपने मन में मानते भी हैं कि हमारा काम संचालन-पद्धति से नहीं, सहकार-पद्धति से चल रहा है।

आजकल भौतिक विज्ञान में आटोमेशन की बहुत चर्चा है। यह जो मैंने उपर्युक्त उदाहरण दिया है, वह समाज-विज्ञान का आटोमेशन है। इस देश में प्राचीनकाल से आटोमेशन प्रणाली के सफल प्रयास के बावजूद हम अपने विचार के अनुसार इस दिशा में कदम उठाने में घबराते हैं, यह हमारी क्रांति के लिए विडंबना ही है।

कुछ साथी कहते हैं कि कुंभ की बात दूसरी है, क्योंकि उनको कोई काम नहीं करना पड़ता था। लेकिन यह धारणा भ्रामक है। वस्तुतः समाज की क्रियाशीलता में जो भूमिका उन संत-महात्मा, ऋषि-मुनि और आचार्यों की रही है, वह किसी तरह की व्यवस्था की नहीं, बल्कि शिक्षण की भूमिका थी। व्यवस्था गृहस्थों की इकाई स्वावलंबन की पद्धति से चलती थी। स्पष्ट रूप से मालूम होना चाहिए कि हमारी भी भूमिका वही है। हमारी भूमिका व्यवस्थापक की नहीं, शिक्षक की है। अतः जितना काम वे लोग करते थे, उतना ही काम हमें भी करना है।

हमारे इस प्रयोग में ग्रामस्वराज्य का काम माध्यम हो और अहिंसा का प्रयोग मुख्य लक्ष्य हो। गांधीजी हमारे प्रयोग के लिए एक बड़ा संकेत देकर गए हैं। वह है, 'संगठन अहिंसा की कसौटी है।' हम लोगों को सोचना होगा कि अहिंसक संगठन की रूपरेखा क्या होगी। हमारे सामने बापू का मंत्र है तथा निधिमुक्ति और तंत्रमुक्ति के रूप में विनोबाजी का संकेत है। अब सोचना होगा कि इसका रूपायन किस प्रकार हो।

मैं एक बात यह भी कहता आया हूं कि हमारी पद्धति समिति की नहीं, सम्मेलन की होनी चाहिए। हम किसी 'संघ' में बंधे हुए न हों, बल्कि एक-दूसरे के 'संग' में बंधे रहें। मेरा संकेत सर्वोदय-समाज की कल्पना की ओर रहा है। उसी विचार पर इस बार की परिस्थिति को देखकर चिंतन चलता रहा है। मैं सोचता रहा कि नए प्रयोग की शुरूआत कहां से हो? उसके कार्यकर्ता किस प्रकार के हों? और उनकी जीविका आदि की व्यवस्था किस प्रकार से हो?

पहली बात यह है कि किसी संस्था या व्यक्ति द्वारा भेजा गया कार्यकर्ता क्रांति नहीं कर सकता है, चाहे वह कितना भी समर्थ क्यों न हो। वही कार्यकर्ता क्रांति कर सकता है, जो विचार के प्रति पूर्ण समर्पण के साथ क्षेत्र में पहुंच जाता है। फिर वह अपनी वृत्ति-शक्ति तथा विचार से काम करता है, किसी के निर्देशन में नहीं। अपनी जीविका के लिए वह चालीस गांव के प्रस्ताव के अमल का प्रयास करता है। यानी अपने मित्र के सहारे, अपने घर के सहारे या सर्वजन के सहारे जीए तथा क्षेत्र के जन-जन में प्रवेश कर उनसे स्नेह संबंध स्थापित कर उसी क्षेत्र के ग्रामीण जनों में से नए-नए ऐसे साथी कार्यकर्ता निकाले, जो इस आंदोलन को चला सकें। अर्थात् हमारे कार्यकर्ताओं का यह काम रहे कि वे क्षेत्र में से जिम्मेदार सहयोगी ढूंढ़ निकालें और उन्हें विचार का प्रशिक्षण दें तथा कार्यक्रम के लिए सलाह दें।

मैं सोचता हूं कि इस विचार के अनुसार कार्यकर्ताओं की जीविका की एक नई पद्धति अपनाई जाए। यह पद्धति आर्थिक न होकर सांस्कृतिक हो, पारिवारिक हो। हम अपनी बैठकों में कार्यकर्ताओं के योगक्षेम के बारे में निरंतर विचार करते रहे हैं। लेकिन हम आज तक किसी निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुंच पाए हैं। विनोबाजी की प्रेरणा से हम कभी-कभी संचित निधिनिरपेक्ष पद्धति को ढूंढ़ते जरूर रहे हैं। इस प्रयास में विशिष्ट जनों के संपत्ति दान तथा सर्वजन के सर्वोदय-पात्र का विचार भी सामने आया था। लेकिन उन तरीकों में हम अब तक सफल नहीं हो सके हैं। क्यों नहीं हो सके, उसका कारण भी ढूंढ़ना चाहिए।

मैं जब इस प्रश्न पर विचार करता हूं तो उसका कुछ कारण समझ में आता है। वस्तुतः एक बार का दान या चंदा किसी तीव्र प्रयास द्वारा प्राप्त किया जा

सकता है। ऐसा एक मुश्त दान किसी भी अच्छे काम के लिए कोई भी दे सकता है। लेकिन ऐसे तदर्थ अवसर के छोर पर से दान प्रवाह निकल नहीं सकता है। दान-प्रवाह उसी विचार के लिए निकल सकता है, जिसकी आकांक्षा तथा स्वीकृति मनुष्य में है। दान-प्रवाह किसी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा की भावना से भी निकल सकता है।

किसी संस्था या व्यक्ति द्वारा भेजा गया कार्यकर्ता क्रांति नहीं कर सकता है, चाहे वह कितना भी समर्थ क्यों न हो। वही कार्यकर्ता क्रांति कर सकता है, जो विचार के प्रति पूर्ण समर्पण के साथ क्षेत्र में पहुंच जाता है।

लेकिन हम जिस विचार का अधिष्ठान करना चाहते हैं, उसकी परंपरागत स्वीकृति नहीं है। हम लोक-शिक्षण द्वारा समाज में उस विचार की स्वीकृति पैदा करना चाहते हैं। हम सर्वोदय पात्र आदि पद्धति उन कार्यकर्ताओं के लिए अपनाना चाहते हैं, जिनका काम परंपरागत मान्यताएं तथा सिद्धान्तों को बदलने का है। ऐसे विचार के लिए वैसे मनुष्य में से दान-प्रवाह प्रवाहित नहीं हो सकता है, जिनकी इस विचार के प्रति निष्ठा नहीं है और उस विचार के अधिष्ठान की चाह नहीं है। वे हमारे काम को अच्छा मानकर कुछ चंदा जरूर दे सकते हैं, कभी कुछ खिला-पिला सकते हैं और दूसरे प्रकार से सहकार भी कर सकते हैं। लेकिन उनके हाथ से दान-प्रवाह नहीं निकलेगा।

आजादी के आंदोलन के दिनों में देश के करीब-करीब हर आदमी में आजादी की उत्कट चाह थी। ऐसे अवसर पर जब हम लोग घर-घर में मुठिया फंड के नाम से हंडिया रखते थे, तब सब घर वाले उत्साह से उसमें एक-एक मुट्ठी दान करते थे। जिस विचार के पोषण के लिए वह हंडिया रखी जाती थी, उसकी उत्कट चाह उनके मन में थी। धार्मिक संस्थाओं, मंदिरों तथा मठों के लिए निरंतर दान-प्रवाह बहता रहता है क्योंकि उसके लिए परंपरागत मान्यता है।

इसलिए हम लोगों को सोचना होगा कि हमारी पद्धति क्या हो,जिससे उस क्रांति के लिए दान-प्रवाह उपलब्ध हो, जिसके पक्ष में आज जनता की मान्यता मौजूद नहीं है। फिर यह भी देखना होगा कि उस पद्धति में से संचालन की प्रक्रिया की सृष्टि न हो। हमें इस बात को भी देखना होगा कि हमारा जो लक्ष्य ग्राम-परिवार से प्रारंभ कर विश्व-परिवार तक पहुंचना है, उसके साथ हमारी पद्धति का मेल हो।

संपत्तिदान के अवसर पर हमने माना था कि दाता अपने दान का हिसाब खुद रखेगा और उसमें एक मद यह रखेगा कि वे कार्यकर्ताओं के योगक्षेम के लिए भी सहायता दें। आज जब मैं नए सिरे से सोचना शुरू करता हूं तो लगता है कि

उक्त पद्धति भी हमारे लक्ष्य के अनुरूप नहीं थी क्योंकि हम उस समय आर्थिक भूमिका पर ज्यादा सोचते थे, पारिवारिक भूमिका पर नहीं।

इन तमाम प्रश्नों पर विचार करते-करते अब मुझे लग रहा है कि अगर हम मित्राधार के विचार को कुछ व्यवस्थित ढंग से विकसित करें तो उसमें से दान प्रवाह की एक नई भूमिका निकल सकती है, सामने आ सकती है और उसके साथ कुछ पारिवारिक बुनियाद भी पड़ सकती है। हम बहुत से साथी देशभर के लोगों से संपर्क रखते हैं और उनमें बहुत से ऐसे परिवार हैं, जो समर्थ हैं, हमारे विचार के प्रति निष्ठा रखते हैं और चाहते हैं कि अपने को अपनी स्थिति में रखते हुए इस क्रांति के काम में किसी न किसी प्रकार जुड़ जाएं।

ऐसे लोगों को हम सुझाव दे सकते हैं कि वे अपने परिवार के एक सदस्य को इस काम मे लिए समर्पित कर दें। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि सारी निष्ठा, श्रद्धा और भक्ति के बावजूद उनमें से कोई निकलने के लिए आसानी से तैयार नहीं होगा। इसलिए हम उन्हें इस बात की प्रेरणा देने का प्रयास करें कि वे किसी निकले हुए तरुण या तरुणी को अपने परिवार में जोड़ लें, उसे अपने ही परिवार का मानकर गोद ले लें। उसे अपने परिवार का एक सदस्य मानकर उसके गुजारे का प्रबंध करें। इतना ही नहीं,बल्कि परिवार के सदस्य के नाते उसके कार्यक्रम तथा गतिविधि से संपर्क भी रखें। कभी-कभी उसके कार्य क्षेत्र में अपने परिवार के साथ क्षेत्र देखने के लिए चले भी जाएं तथा साथ ही उसे अपने परिवार के अनुष्ठानों में निमंत्रित भी करें।

इस प्रकार की भावना अगर पैदा हुई तो इससे केवल जीविका का प्रश्न हल न होकर सर्वोदय-समाज का पारिवारिक संबंध व्यापक रूप से विकसित हो सकेगा। मुझे पूरा विश्वास है कि हम लोग अगर व्यवस्थित ढंग से इसका प्रयास करेंगे तो सफलता अवश्य मिलेगी क्योंकि यह जमाने की मांग है।

जब इस प्रकार गोद लिए हुए तरुण साथी बहुत अधिक संख्या में भिन्न-भिन्न सघन क्षेत्रों में बैठ जाएंगे तो वे अपने-अपने क्षेत्रों में अपने ढंग से काम करेंगे तथा समय-समय पर सम्मेलन-पद्धति से परस्पर मिलकर चर्चा करेंगे। इस प्रक्रिया को मैं संघ-पद्धति के बदले 'संग' पद्धति कहता हूं।

जब हम लोग इस प्रकार सोचते रहेंगे और कुछ प्रयोग करते रहेंगे तो अहिंसक संगठन की खोज में नित्य एक नया स्रोत दिखाई देने लगेगा।

*

अपने ही आंगन में पराए

सुधांशु भूषण मिश्र

उत्तर प्रदेश के सुदूर पूर्वी हिस्से में बनारस से बरास्ता गाजीपुर, मऊ जाने वाली सड़क। हमेशा की तरह ऊबड़-खाबड़। गाजीपुर पार करने के बाद हम सड़क के किनारे एक अड़ी पर उतर पड़े। वहां जुटे बड़े-बुजुर्गों से कुशल-क्षेम के दौरान देश-दुनिया के बारे में कई दिलचस्प बातें तो पता चली हीं, यह भी पता चला कि आसपास के कई गांवों के बच्चे पास में खुले एक नए अंग्रेजी स्कूल 'जार्ज कर्जन कानवेंट' में जाने लगे हैं!

जिन गांवों में न सड़क है, न बिजली, न सिंचाई सुविधा, न अस्पताल– वहां जार्ज कर्जन कानवेंट का इतना आकर्षण? स्कूल की इमारत पास ही थी। हम उधर ही बढ़ लिए। पता चला कि यह कानवेंट स्कूल उन्हीं दो कमरों में चलता है, जिनमें हाल तक एक सरकारी प्राथमिक पाठशाला चलती थी। उस दिन वसंत पंचमी थी। उस अंग्रेजी स्कूल के अध्यापकों व विद्यार्थियों ने सरस्वती पूजा की परंपरा कम से कम उस साल तक तो कायम रखी थी।

ये जार्ज कर्जन कानवेंट स्कूल वाले जार्ज कर्जन हैं कौन? क्या वही वायसराय लार्ड कर्जन हैं, जिन्होंने सौ-सवा सौ साल पहले बंगाल का बंटवारा कर हिंदुओं-मुसलमानों के बीच स्पर्धा, वैमनस्य और सांप्रदायिकता का विष-वृक्ष रोपा था? भारत पर 190 साल के अंग्रेजी राज का शायद सबसे दुर्दांत समय था कर्जन का राज। यों, यूरोपीय मूल के समुद्री डाकुओं, लुटेरों और साहसी धर्म प्रचारकों ने सोलहवीं सदी से ही भारत आना शुरु कर दिया था, पर 18वीं सदी आते-आते वे भारतीय मामलों में खुलेआम दखलंदाजी करने लगे थे। ये गोरे मेहमान हमारे राजाओं की लड़ाइयां लड़ते, उन्हें आपस में लड़ाते और अपनी जेबें भरते जाते थे। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में भारतीयों ने बार-बार इन विदेशियों को भगाने

की ठानी, पर सफल नहीं हुए। अठारहवीं सदी के अंतिम चरण और अगली सदी के आरंभ तक अंग्रेज इस विशाल भू-भाग के मालिक बन बैठे।

उसके बाद क्या हुआ? न्याय की धज्जियां उड़ते हुए, भारतीयों को गाजर-मूली की तरह निर्ममता से काटते हुए, रिश्वतें लेते, लूटपाट करते, राजाओं को गद्दी से उतारते-चढ़ाते, बैठाते ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके नौकरों ने अपनी बदनीयती का पग-पग पर प्रदर्शन किया। कंपनी के दफ्तरों में काम करने के लिए क्लर्कों की जरूरत पड़ी तो विश्वविद्यालय खड़े किए गए, दमन और प्रतिरोध कुचलने की जरूरत पड़ी तो जल्दी सेना भेजने हेतु रेलें बिछाई गईं। इधर, भारतीय बगावतें करते रहे और लोग अपनी अस्मिता व गरिमा बचाने के लिए सिर पर कफन बांध कर संग्रामों में कूदते रहे। बगावत करने वालों को, बच्चे, बूढ़े, जवान सभी को गांवों, कस्बों और शहरों में पीपल, बरगद के पेड़ों पर लटकाते रहे अंग्रेज।

जार्ज कर्जन हैं कौन? क्या वही वायसराय लार्ड कर्जन हैं, जिन्होंने सौ-सवा सौ साल पहले बंगाल का बंटवारा कर हिंदुओं-मुसलमानों के बीच स्पर्धा, वैमनस्य और सांप्रदायिकता का विष-वृक्ष रोपा था? भारत पर 190 साल के अंग्रेजी राज का शायद सबसे दुर्दांत समय था कर्जन का राज।

अंग्रेजों ने इस भूमि पर अपना कब्जा मजबूत किया, उसे बुरी तरह चूसा और अपनी सारी अवैध कमाई सात समंदर पार ले गए। एक के बाद एक विद्रोह हुए। फिर भी 190 साल तक अंग्रेजों से आजादी नहीं मिल पाई। आखिरकार गांधीजी के अभिवन प्रयोगों और जान की बाजी लगाने को तैयार नौजवानों के तेवरों के आगे अंग्रेजों के हौसले पस्त हुए और 1947 में अनंत बलिदानों के बाद हमें आजादी मिली।

जार्ज कर्जन कानवेंट स्कूल के संदर्भ में सैकड़ों वर्षों के भारतीय इतिहास के इस अति-संक्षिप्त पुनरावलोकन का मकसद कुछ आधारभूत सांस्कृतिक सामाजिक मुद्दों पर पाठकों का ध्यान खींचना ही है। आगे की चर्चा सुगम हो सके इसके लिए 'संस्कृति' शब्द को ठीक से समझ लेना होगा। इसलिए आइए पहले इस सुंदर शब्द का अर्थ-गौरव देख लें। 'संस्कृति' की बात करते हैं तो हम मोटे तौर पर अपने पुरखों की थाती की ही बात कर रहे होते हैं। इसमें हम सबकी समूची जीवन-चर्या, आस्था-निष्ठा, आचार-विचार, यहां तक कि विधि-निषेधों, यानी समस्त जीवन-मूल्यों का समावेश हो जाता है। 'मूल्य' शब्द का संबंध 'मूल' से है– जो 'मूल' का हित करे, जो सृष्टि और जीवन के लिए हितकर हो वही

'मूल्य' है। ऐसे जीवन मूल्यों को न खंडित करके देखा जा सकता है, न इन्हें जाति, धर्म, संप्रदाय अथवा विचारधाराओं में बांधा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति और कुछ नहीं, किसी समाज की सामूहिक थाती, यानी लोक-स्मृति ही है। यह मार्ग हमारे पेचीदा इतिहास और भूगोल में से होकर जाता है। इसके साथ ही हमें यह भी याद रखना होगा कि हमारा वर्तमान अनेक मानसिकताओं के टकराव, बिखराव से भी सज गया है।

'संस्कृति' की बात करते हैं तो हम मोटे तौर पर अपने पुरखों की थाती की ही बात कर रहे होते हैं। इसमें हम सबकी समूची जीवन-चर्या, आस्था-निष्ठा, आचार-विचार, यहां तक कि विधि-निषेधों, यानी समस्त जीवन-मूल्यों का समावेश हो जाता है। 'मूल्य' शब्द का संबंध 'मूल' से है। ऐसे जीवन मूल्यों को न खंडित करके देखा जा सकता है, न इन्हें जाति, धर्म, संप्रदाय अथवा विचारधाराओं में बांधा जा सकता है।

ऐसे में प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं कि विदेशी प्रभाव, प्रेरणाएं, विचार, विश्वास, यहां तक कि शब्दावलि भी किस विधि से हमारे लोकमानस को प्रभावित कर पाई है। हमारा लोकमानस हजारों सालों तक अविजित रहा। लेकिन अंग्रेजी-राज और स्वतंत्र भारत पर अंग्रेजी प्रभाव को देखते हुए अब क्या उसे पराजित मान लिया जाए? 'जार्ज कर्जन कानवेंट स्कूल' के संदर्भ में ये ऐसे प्रश्न हैं, जिन पर स्वस्थ चर्चा होनी चाहिए। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था से भारत को सफलता मिलने वाली है या सुफलता।

ऐसे कुछ प्रश्नों के आंशिक जवाब टॉमस बैबिंगटन उर्फ लार्ड मैकॉले के सन् 1835 वाले चर्चित निबंध से मिल जाते हैं। एक बार फिर दुहरा लें कि मैकॉले ने भारत और भारतीयों पर फिरंगी पकड़ बनाए रखने के लिए अंग्रेजी और अंग्रेजीयत की अनिवार्यता बताई थी।

मैकॉले पर किसी को हैरानी नहीं होनी चाहिए। मैकॉले के नए अवतारों और उनके नए-पुराने पिष्टपोषकों पर गुस्से की भी कोई जरूरत नहीं है। इन लोगों से इससे बेहतर कोई उम्मीद की भी नहीं जा सकती थी। हैरानी और गुस्सा इस बात पर आना चाहिए कि सन् 1835 में फिरंगी राज की मजबूती के लिए मैकॉले ने अंग्रेजी और अंग्रेजीयत की जो जरूरत बताई थी, उसे हमारे वर्तमान कर्णधार, आजादी के 65 साल बाद, यानी 21वीं सदी के बाजारवाद के लिए अब और भी ज्यादा जरूरी मान रहे हैं।

ब्रिटिश काउंसिल के तत्वावधान में हुआ एक अध्ययन और उसकी सिफारिशों को भी हमें इस प्रसंग में एक बार दुहरा लेना चाहिए। ज्यादा क्या कहें, इस रिपोर्ट में मैकॉले के तर्कों का ही विस्तार है। उपनिवेशों और पेट्रोल-संपन्न पश्चिम एशिया में अंग्रेजी प्रभाव बढ़ाने के लिए सन् 1935 में ब्रिटिश तेल कंपनियों के अनुदान से ब्रिटिश काउंसिल नामक संस्था की स्थापना हुई थी। तभी से अंग्रेजी और अंग्रेजीयत का विस्तार ब्रिटेन की विदेश नीति का अविछिन्न हिस्सा बना हुआ है। अमेरिका के अनेक स्वनामधन्य फाउंडेशन भी इसमें भरपूर मदद करते रहे हैं। नए स्वतंत्र हुए देशों में अमेरिका और ब्रिटेन दोनों के आर्थिक निवेशों की संरक्षा आवश्यक मानी गई थी।

सन् 1930-1940 के दौर में ब्रिटेन और उसकी नीतियों से यूरोप के भी बहुत से लोग चिढ़ते थे। इसका सामना करने के लिए ही सन् 1935 में इस काउंसिल की स्थापना की गई थी। सन् 1941 में काउंसिल ने सिफारिश की थी कि दूसरा महायुद्ध खत्म होने के बाद दुनिया भर में अंग्रेजी पढ़ाने-लिखाने के लिए (ब्रिटिश) सिविल सेवा, फौज, न्यायाधीशों अथवा चर्च जैसी पेशेवर जमात खड़ी की जानी चाहिए। उन्हें 'भाषाई मिशनरी' कहा गया था। उनका काम था दुनिया भर में स्नातकोत्तर दर्जे तक की पढ़ाई-लिखाई पर ऐसा जादू डालना कि सब जगह अंग्रेजी की अनिवार्यता स्थापित हो जाए। यानी, अंग्रेजी के अलावा पढ़ाई-लिखाई सर्वथा असंभव बन जाए। एक सिफारिश यह भी थी कि इस काम का संयोजन ब्रिटेन से ही हो ताकि अंग्रेजी भाषा और संस्कृति, यानी अंग्रेजीयत के प्रचार-प्रसार का 'महत' कार्य ठीक से संचालित हो सके। इस रिपोर्ट के लेखक थे आर.वी. रौथ। बाद में यह एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित भी हुई। इस पुस्तक का नाम हैः द डिफ्यूजन ऑफ इंग्लिश कल्चर आउट साइड इंग्लैंड, ए प्राब्लम ऑफ पोस्ट-वॉर रिक्सट्क्शन।

मैकॉले पर किसी को हैरानी नहीं होनी चाहिए। मैकॉले के नए अवतारों और उनके नए-पुराने पिष्टपोषकों पर गुस्से की भी कोई जरूरत नहीं है। इन लोगों से इससे बेहतर कोई उम्मीद की भी नहीं जा सकती थी। हैरानी और गुस्सा इस बात पर आना चाहिए कि सन् 1835 में फिरंगी राज की मजबूती के लिए मैकॉले ने अंग्रेजी और अंग्रेजीयत की जो जरूरत बताई थी, उसे हमारे वर्तमान कर्णधार, आजादी के 65 साल बाद, यानी 21वीं सदी के बाजारवाद के लिए अब और भी ज्यादा जरूरी मान रहे हैं।

इन दिशा-निर्देशों पर अमल तुरंत शुरू हो गया और सन् 1950 आते-आते एक पूरा ढांचा खड़ा कर लिया गया था। यह सब इतनी फुर्ती से किया गया कि सन् 1964 तक अफ्रीका, दक्षिण-अमेरिका और एशिया के अनेक देशों में अंग्रेजी और अंग्रेजी तौर-तरीके सिखाने के व्यवसाय में लगे लोगों की संख्या हजारों में पहुंच चुकी थी। इन विस्तार नीतियों और उनकी उपलब्धियों की साल-दर-साल समीक्षा होती रही और कार्यपद्धति में जरूरी माने गए सुधार भी तुरत-फुरत किए जाते रहे।

सन् 1930-1940 के दौर में ब्रिटेन और उसकी नीतियों से यूरोप के भी बहुत से लोग चिढ़ते थे। इसका सामना करने के लिए ही सन् 1935 में ब्रिटिश काउंसिल की स्थापना की गई थी। सन् 1941 में काउंसिल ने सिफारिश की थी कि दूसरा महायुद्ध खत्म होने के बाद दुनिया भर में अंग्रेजी पढ़ाने-लिखाने के लिए (ब्रिटिश) सिविल सेवा, फौज, न्यायाधीशों अथवा चर्च जैसी पेशेवर जमात खड़ी की जानी चाहिए।

इसी समीक्षा की कड़ी में एक ताजा रिपोर्ट अब डेविड ग्रेडॉल ने लिखी है। इसका नाम हैः 'इंग्लिश नेक्स्ट, इंडिया'। 2010 की इस महान रिपोर्ट को ब्रिटिश काउंसिल के इंटरनेट पेज पर कोई भी देख सकता है।

ग्रेडॉल ने भारतीय समाज, भारतीय अर्थतंत्र, भाषाई और शैक्षिक समस्याओं पर काफी खोजबीन के बाद इस रिपोर्ट को तैयार किया है। उन्होंने न केवल हमारी सरकार के अनेक अध्ययनों का उल्लेख किया है, देश के कुछ प्रमुख उद्योगपतियों, व्यापारियों से भी बातचीत की है। इन सबसे हुई बातचीत के बाद ग्रेडॉल की रिपोर्ट में यह बात उभर के सामने आती है कि हमारे देश के ज्यादातर लोग अंग्रेजी भाषा में प्रवीणता को अपनी तमाम समस्याओं से मुक्ति की एक मात्र कुंजी मानते हैं। ऊपर-ऊपर से देखें तो यह रिपोर्ट देश में अपर्याप्त अंग्रेजी शिक्षा-व्यवस्था की झलक देती है, पर गहरे में जाएं तो असल मकसद साफ हो जाता है।

भारतीय भू-भाग में अंग्रेजी और अंग्रेजीयत के वर्तमान फैलाव के लिए डेविड ग्रेडॉल या उनके पहले मैकॉले को दोषी नहीं माना जा सकता। यूरोप महाद्वीप के जिस उत्तर-पश्चिमी टापू को हम ब्रिटेन नाम से जानते हैं, वह ऐतिहासिक तौर पर विभिन्न कबीलों का एक मिला-जुला घर रहा है। इनमें इंग्लिश, स्काट, वेल्स और पिछले सौ-दो सौ सालों के दौरान कभी पूर्ण तो

कभी आंशिक कब्जे में रहे आयरिश लोग प्रमुख हैं। ईसा के कोई सौ साल बाद इस टापू पर रोमन साम्राज्य का कब्जा हो गया था। इतिहास प्रमाण है कि रोमन गवर्नर ने टापू के निवासियों को जंगली कहा था और बड़ी शान से यह घोषणा की थी कि उसने कैसे इन जंगली लोगों को 'सभ्य' बनाया था। गवर्नर ने कहा था कि इसके लिए कबीलों के मुखियाओं के बेटों पर डोरे डाले गए और उनकी जीभ में लैटिन भाषा व उनके शरीर पर भी वही पहरावा उढ़ा दिया गया था। यानी, भाषाई और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का यह भद्दा इतिहास हमारे अंग्रेज मैकॉले से कहीं पुराना है। पहले रोमनों ने अंग्रेजों पर और फिर अंग्रेजों ने स्काटिश, आयरिश और वेल्स लोगों पर भी इन्हीं उपायों से अपना भाषाई व सांस्कृतिक वर्चस्व थोपा था। हमारा नंबर तो सबसे बाद में ही आया है न!

अंग्रेजी और अंग्रेजीयत फैलाने की नीतियों पर भारतीय विद्वान आशीष नंदी ने काफी कुछ लिखा है। उनकी खोजबीन का तो निष्कर्ष यह है कि अंग्रेजी और अंग्रेजीयत को लेकर वेल्स और स्काटलैंड के लोगों को हम भारतीयों की अपेक्षा कहीं ज्यादा अपमान झेलना पड़ा था। भारतीय कमोबेश बचे इसलिए क्योंकि 190 साल के अंग्रेजी राज के बावजूद आम भारतीयों ने अंग्रेजी और अंग्रेजीयत में कभी कोई खास रुचि नहीं ली थी।

अंग्रेजी और अंग्रेजीयत फैलाने की नीतियों पर भारतीय विद्वान आशीष नंदी ने काफी कुछ लिखा है। उनकी खोजबीन का तो निष्कर्ष यह है कि अंग्रेजी और अंग्रेजीयत को लेकर वेल्स और स्काटलैंड के लोगों को हम भारतीयों की अपेक्षा कहीं ज्यादा अपमान झेलना पड़ा था। भारतीय कमोबेश बचे इसलिए क्योंकि 190 साल के अंग्रेजी राज के बावजूद आम भारतीयों ने अंग्रेजी और अंग्रेजीयत में कभी कोई खास रुचि नहीं ली थी।

अब इस पृष्ठभूमि में मैकॉले और ग्रेडॉल की सिफारिशों को आमने-सामने रख कर देखें तो अनेक बातें साफ हो सकती हैं। पहली तो यही कि ईस्ट इंडिया कंपनी, जो ब्रिटिश सरकार के वरदहस्त के बावजूद अपनी रीतियों-नीतियों के बारे में स्वतंत्र थी, ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के फायदे की ही सोच रही थी। यही उद्देश्य अब परिष्कृत तरीके से 'शैक्षिक और सांस्कृतिक संबंधों' की भाषा में दोहराया जा रहा है। हां, दोनों के बीच एक बुनियादी अंतर जरूर है– ईस्ट इंडिया कंपनी ने सुसज्जित फौजी ताकत से ब्रिटिश अर्थतंत्र को

फायदा पहुंचाया, पर नए कर्ताधर्ताओं को वैसा करना खतरे से खाली नहीं लगता। वही उद्देश्य अगर 'साफ्ट-पावर' से सध सकता है तो जान-माल का जोखिम क्यों उठाएं? 'साफ्ट-पावर' किसे कहते हैं? आधुनिक राजनीति के पंडित इस बात से इनकार नहीं कर सकेंगे कि 'शैक्षिक और सांस्कृतिक संबंधों' का अर्थ और कुछ नहीं बल्कि 'साफ्ट-पावर' ही है।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने अस्तित्व के अंतिम बरस यानी सन् 1857 में चाहे जितने करोड़ पौंड का व्यापार किया हो, अंग्रेजी फैलाने के इस आधुनिक तंत्र ने अकेले पिछले साल साढ़े सत्तर करोड़ पौंड यानी 52 अरब 87 करोड़ रुपए से ज्यादा का व्यापार कर दिखाया है। इसी जबर्दस्त मुनाफे के कारण ग्रेडॉल अपनी रिपोर्ट में यह कह सके हैं कि इस काम के लिए ब्रिटिश सरकार को प्रति एक पौंड अनुदान पर ढाई पौंड का मुनाफा हुआ है– 250 प्रतिशत मुनाफा! दान दिया और धंधा भी कर लिया।

सेवकों की कार्य विधि क्या है, इस पर सिर्फ अटकलें लगाई जा सकती हैं। परंतु देश के गांव-कस्बों तक पहुंच चुके अंग्रेजी स्कूलों और सर्वत्र स्थानीय भाषाओं, बोलियों परंपराओं, मनोरंजन में गैर-भारतीय प्रभाव देखकर यह कहना ही पड़ेगा कि सेवकों ने अपने काम को बखूबी अंजाम दिया है।

इस भारी-भरकम व्यापार के संचालन के लिए प्रशिक्षित सेवकों की आवश्यकता लाजमी है। इसलिए यह समझना कठिन नहीं होना चाहिए कि दुनिया के जिस भी हिस्से को अंग्रेजी और अंग्रेजीयत के लिए उपयुक्त समझा जाएगा, वहां सेवकों की भर्ती व तैनाती की जाएगी। इन सेवकों का मुख्य काम अंग्रेजी को बढ़ावा देने के उपाय करना होगा। ब्रिटेन के लिए यह व्यापार सालाना करीब दो अरब पौंड जैसा कीमती जो है।

सेवकों की कार्य विधि क्या है, इस पर सिर्फ अटकलें लगाई जा सकती हैं। परंतु देश के गांव-कस्बों तक पहुंच चुके अंग्रेजी स्कूलों और सर्वत्र स्थानीय भाषाओं, बोलियों, परंपराओं, मनोरंजन में गैर-भारतीय प्रभाव देखकर यह कहना ही पड़ेगा कि सेवकों ने अपने काम को बखूबी अंजाम दिया है।

यह कहानी लंबी है। इसे यहीं छोड़ कर थोड़ा पीछे लौटते हैं। मैकॉले व ग्रेडॉल की परिकल्पनाओं को आमने-सामने रखकर निर्णय पाठकों पर ही छोड़ देते हैं। मैकॉले ने अपने निबंध में भारतीय साहित्य परंपरा के बारे में

बड़ी हिकारत से कहा था कि भारत और अरब का सारा साहित्य मिल कर भी यूरोपीय पुस्तकालय के एक खाने की किताबों का मुकाबला नहीं कर सकता। अब ग्रेडॉल की रिपोर्ट पर नजर डालें, जिसमें कहा गया कि भारत में अंग्रेजी का फैलाव संतोषजनक नहीं है, इसलिए भारत उन देशों से काफी पीछे है, जहां अंग्रेजी को नर्सरी और प्राईमरी दर्जे से ही शिक्षा का माध्यम बना दिया गया है। मैकॉले ने कहा था कि अंग्रेजी जानने वालों को ज्ञान की अकूत संपदा उपलब्ध है। ग्रेडाल का कहना है कि इक्कीसवीं सदी की दुनिया में समुचित भागीदारी के लिए अंग्रेजी का ज्ञान बुनियादी अनिवार्यता है।

अर्थ साफ है– अंग्रेजी नहीं जानने वाले फिसड्डी बने रहने को अभिशप्त हैं। अब आप ही सोचें, कौन समझदार व्यक्ति फिसड्डी रहना चाहेगा? गांव, कस्बों में खुलते जा रहे अंग्रेजी स्कूल हम भारतीयों को सभ्य बनाने की महत्वपूर्ण मुहिम का हिस्सा है जनाब।

मैकॉले ने अपने निबंध में भारतीय साहित्य परंपरा के बारे में बड़ी हिकारत से कहा था कि भारत और अरब का सारा साहित्य मिल कर भी यूरोपीय पुस्तकालय के एक खाने की किताबों का मुकाबला नहीं कर सकता।

मैकॉले का मानना था कि भारतीयों को अंग्रेजी पढ़ाने-लिखाने से बीस सालों में ही भारत के भीतर हजारों दुभाषिए खड़े हो जाएंगे। ठीक यही बात ग्रेडॉल ने भी कही है। भूमंडलीकरण की वजह से भारत के लोग अंग्रेजी ही चाहते हैं... भारत की सरकार उसी दिशा में कदम बढ़ा भी रही है।... अंग्रेजी भारत के भूमंडलीकरण में उत्प्रेरक रही है। अंग्रेजी के बिना काम नहीं चल सकता आदि। यानी अंग्रेजी चाल-चलन, तौर-तरीके हमें अपनाने ही होंगे!

यह बड़ी कारुणिक बात है। सिंगापुर में सारी पढ़ाई-लिखाई शुरू से ही अंग्रेजी में होती है, और परिणाम? एक पीढ़ी पहले तक उस नन्हे से देश में 90 प्रतिशत नागरिक मंडारिन, तमिल, तेलुगू, मलय, बांग्ला, वियतनामी बोलते थे। पर उन्हीं घरों में अब केवल अंग्रेजी बोली जाती है। जो लोग सिंगापुर हो आए हैं, उनसे पूछ कर देखें। उस देश में अंग्रेजी भाषा-भाषी सिर्फ चमड़ी के रंग से ही अलग पहचाने जा पाते हैं। यही शैली भारत के अनेक अंग्रेजी स्कूलों ने भी अपनाई है, जहां हिंदी या दूसरी बोलियां बोलना सर्वथा निषिद्ध है। अगर कोई विद्यार्थी हिंदी या किसी भारतीय भाषा में बात करते पाया गया तो उसे भारी दंड मिलता है।

एक समृद्ध भाषा के तौर पर अंग्रेजी की पढ़ाई-लिखाई से किसी को शायद ही कोई एतराज हो। लेकिन जब अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बना देने की वकालत की जाए तो इस संदेह को बल मिलता है कि कहीं चोर दरवाजे से अंग्रेजीयत की बात तो नहीं चल रही है? भारत में अंग्रेजीयत का मायने होगा– पुरखों की थाती का निषेध, अपनी समूची जीवन-चर्या का तिरोधान, अपने आचार-विचार, आस्थाओं-निष्ठाओं, विधि-निषेधों, यानी हमारे समस्त जीवन पर एक ऐसी जीवन-पद्धति का आरोपण जो हमारी अपनी नहीं है। इंग्लैंड के अलावा यूरोप में जहां कहीं अंग्रेजी पढ़ाई जाती है, वह बस एक विषय के तौर पर पढ़ाई जाती है। अंग्रेजी वहां शिक्षा का माध्यम नहीं है।

इसलिए अंग्रेजी खासकर गांव-गांव तक पहुंच गए जार्ज कर्जन कानवेंट स्कूलों से यही बात साबित होती है कि बाजारवाद की ओट से ईस्ट इंडिया कंपनी एक नए लिबास में फिर से भारत में प्रवेश कर रही है और इस प्रकार विदेशियों के नेतृत्व परंतु अपने ही भाई-बंधुओं के हाथ अन्याय, आभिजात्य, गैर-बराबरी और भारतीयों व भारतीयता की स्वरूप-हानि का मैदान पुनः साफ है। मनोरंजन, आमोद-प्रमोद, यानी 'संस्कृति' के सभी सस्ते और सर्वसुलभ साधनों पर अंग्रेजी और अंग्रेजीयत का वर्चस्व स्थापित हो ही चुका है। हिंदी अब हिंगलिश हो चली है। हमारे सबसे अच्छे माने गए अखबार, टीवी चैनल-सभी तो हिंगलिश लिख बोल रहे हैं। हमारे खेत-खलिहान, जल-जमीन, नदियां-पहाड़, जंगल-खदानें, चौपाल, चौराहे सभी तो एक-एक करके बेगाने होते जा रहे हैं।

लेखक अमेरिका में रहते हैं और गांधी-मार्ग व
गांधी विचार के प्रचार-प्रसार के प्रति समर्पित हैं। अमेरिका में
गांधी विचार से जुड़ रहे साथियों को अनौपचारिक ढंग से संग ला रहे हैं।

*

रावणा तोंडी रामायण

अनुपम मिश्र

ये दो बिलकुल अलग-अलग बातें हैं– प्रकृति का कैलेंडर और हमारे घर-दफ्तरों की दीवारों पर टंगे कैलेंडर, कालनिर्णय या पंचाग। हमारे संवत्सर के पन्ने एक वर्ष में बारह बार पलट जाते हैं। पर प्रकृति का कैलेंडर कुछ हजार नहीं, लाख करोड़ वर्ष में एकाध पन्ना पलटता है। इसलिए हिमालय, उत्तराखंड, गंगा, नर्मदा आदि की बातें करते समय हमें प्रकृति के भूगोल का यह कैलेंडर कभी भी भूलना नहीं चाहिए। पर करोड़ों बरस के इस कैलेंडर को याद रखने का यह मतलब नहीं कि हम हमारा आज का कर्तव्य भूल बैठें। वह तो सामने रहना ही चाहिए। और उस हिसाब से काम भी होना चाहिए। पर माथा साफ नहीं होगा तो काम भी होने नहीं वाला।

गंगा मैली हुई है। उसे साफ करना है। सफाई की अनेक योजनाएं पहले भी बनी हैं। कुछ अरब रुपए इन सब योजनाओं में बह चुके हैं। बिना कोई अच्छा परिणाम दिए। इसलिए केवल भावनाओं में बह कर हम फिर ऐसा कोई काम न करें कि इस बार भी अरबों रुपयों की योजनाएं बनें और गंगा जस की तस गंदी ही रह जाए।

बेटे-बेटियां जिद्दी हो सकते हैं। कुपुत्र-कुपुत्री भी हो सकते हैं। पर अपने यहां प्रायः यही माना जाता है कि माता कुमाता नहीं होती। तो जरा सोचें कि जिस गंगा मां के बेटे-बेटी उसे स्वच्छ बनाने के प्रयत्न में कोई तीस-चालीस बरस से लगे रहे हैं, वह भला साफ क्यों नहीं होती? क्या इतनी जिद्दी है हमारी यह मां?

सरकार ने तो पिछले दिनों गंगा को 'राष्ट्रीय' नदी का दर्जा भी दे डाला है। साधु-संत समाज, हर राजनैतिक दल, सामाजिक संस्थाएं, वैज्ञानिक समुदाय, गंगा प्राधिकरण और तो और विश्व बैंक जैसा बड़ा महाजन, सब गंगा को तन-मन-धन से साफ करना चाहते हैं। और यह मां ऐसी है कि साफ नहीं होती। शायद हमें थोड़ा रुक कर कुछ धीरज के साथ इस गुत्थी को समझना चाहिए।

अच्छा हो या बुरा हो, हर युग में एक विचार ऊपर उठ आता है। उसका झंडा सब जगह लहरा जाता है। उसका रंग इतना जादुई, इतना चोखा होता है कि वह हर रंग के दूसरे नए, पुराने झंडों पर चढ़ जाता है। तिरंगा, लाल, दुरंगा और भगवा सब तरह के झंडे उसको नमस्कार करते हैं, उसी का गान गाते हैं। उस युग के, उस दौर के करीब-करीब सभी मुखर लोग, मौन लोग भी उसे एक मजबूत विचार की तरह अपना लेते हैं।

कुछ समझ कर तो कुछ बिना समझे भी। तो इस युग को पिछले कोई साठ-सत्तर बरस को, विकास का युग माना जाता है। जिसे देखो उसे अपना यह देश पिछड़ा लगने लगा है। वह पूरी निष्ठा के साथ इसका विकास कर दिखाना चाहता है। विकास पुरुष जैसे विश्लेषण कोई एक दल नहीं, सभी दलों, सभी समुदायों में बड़े अच्छे लगते हैं।

गंगा मैली हुई है। उसे साफ करना है। सफाई की अनेक योजनाएं पहले भी बनी हैं। कुछ अरब रुपए इन सब योजनाओं में बह चुके हैं। बिना कोई अच्छा परिणाम दिए। इसलिए केवल भावनाओं में बह कर हम फिर ऐसा कोई काम न करें कि इस बार भी अरबों रुपयों की योजनाएं बनें और गंगा जस की तस गंदी ही रह जाए।

वापस गंगा पर लौटें। पौराणिक कथाएं और भौगोलिक तथ्य, दोनों कुल मिलाकर यही बात बताते हैं कि गंगा अपौरुषेय है। इसे किसी एक पुरुष ने नहीं बनाया। अनेक संयोग बने और गंगा का अवतरण हुआ। जन्म नहीं। भूगोल, भूगर्भ शास्त्र बताता है कि इसका जन्म हिमालय के जन्म से जुड़ा है। कोई दो करोड़, तीस लाख बरस पुरानी हलचल से। इसके साथ एक बार फिर अपनी दीवारों पर टंगे कैलेंडर देख लें। उनमें अभी बड़ी मुश्किल से 2013 बरस ही बीते हैं।

लेकिन हिमालय प्रसंग में इस विशाल समय अवधि का विस्तार अभी हम भूल जाएं। इतना ही देखें कि प्रकृति ने गंगा को सदानीरा बनाए रखने के लिए इसे अपनी कृपा के केवल एक प्रकार–वर्षा–भर से नहीं जोड़ा। वर्षा तो चार मास ही होती है। बाकी आठ मास इसमें पानी लगातार कैसे बहे, कैसे रहे, इसके लिए प्रकृति ने अपनी उदारता का एक और रूप गंगा को दिया है। नदी का संयोग हिमनद से करवाया। जल को हिम से मिलाया। तरल को ठोस से मिलाया। प्रकृति ने गंगोत्री और गौमुख हिमालय में इतनी अधिक ऊंचाई पर, इतने ऊंचे शिखरों पर रखे हैं कि वहां कभी हिम पिघल कर समाप्त नहीं होता। जब वर्षा समाप्त हो जाए तो हिम, बर्फ एक बहुत ही विशाल भाग

में धीरे-धीरे पिघल-पिघल कर गंगा की धारा को अविरल रखते हैं।

तो हमारे समाज ने गंगा को मां माना और कई पीढ़ियों ने ठेठ संस्कृत से लेकर भोजपुरी तक में ढेर सारे श्लोक मंत्र, गीत, सरस, सरल साहित्य रचा। समाज ने अपना पूरा धर्म उसकी रक्षा में लगा दिया। इस धर्म ने यह भी ध्यान रखा कि हमारे धर्म, सनातन धर्म से भी पुराना एक और धर्म है। वह है नदी धर्म। नदी अपने उद्गम से मुहाने तक एक धर्म का, एक रास्ते का, एक घाटी का, एक बहाव का पालन करती है। हम नदी धर्म को अलग से इसलिए नहीं पहचान पाते क्योंकि अब तक हमारी परंपरा तो उसी नदी धर्म से अपना धर्म जोड़े रखती थी।

पर फिर न जाने कब विकास नाम के एक नए धर्म का झंडा सबसे ऊपर लहराने लगा। इस झंडे के नीचे हर नदी पर बड़े-बड़े बांध बनने लगे। एक नदी घाटी का पानी नदी धर्म के सारे अनुशासन तोड़ दूसरी घाटी में ले जाने की बड़ी-बड़ी योजनाओं पर नितांत भिन्न विचारों के राजनैतिक दलों में भी गजब की सर्वानुमति दिखने लगती है। अनेक राज्यों में बहने वाली भागीरथी, गंगा, नर्मदा इस झंडे के नीचे आते ही अचानक मां के बदले किसी न किसी राज्य की जीवन रेखा बन जाती हैं। और फिर उन राज्य में बन रहे बांधों को लेकर वातावरण में, समाज में इतना तनाव बढ़ जाता है कि कोई संवाद, स्वस्थ बातचीत की गुंजाईश ही नहीं बचती। दो राज्यों में एक ही राजनीतिक दल की सत्ता हो तो भी बांध, पानी का बंटवारा ऐसे झगड़े पैदा करता है कि महाभारत भी छोटा पड़ जाए। सब बड़े लोग, सत्ता में आने वाला हर दल, हर नेतृत्व बांधों से बंध गया है।

बेटे-बेटियां जिद्दी हो सकते हैं। कुपुत्र-कुपुत्री भी हो सकते हैं। पर अपने यहां प्रायः यही माना जाता है कि माता कुमाता नहीं होती। तो जरा सोचें कि जिस गंगा मां के बेटे-बेटी उसे स्वच्छ बनाने के प्रयत्न में कोई तीस-चालीस बरस से लगे रहे हैं, वह भला साफ क्यों नहीं होती? क्या इतनी जिद्दी है हमारी यह मां?

हरेक को नदी जोड़ना एक जरूरी काम लगने लगता है। बड़े-छोटे सारे दल, बड़ी-छोटी अदालतें, अखबार, टीवी भी बस इसी तरह की योजनाओं को सब समस्याओं का हल मान लेते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जरूरत पड़ने पर प्रकृति ही नदियां जोड़ती है। इसके लिए वह ठेका नहीं देती। कुछ हजार-लाख बरस तपस्या करती है। तब जाकर गंगा-यमुना इलाहाबाद में मिलती हैं। कृतज्ञ समाज तब उस स्थान को तीर्थ मानता है। इसी तरह मुहाने पर प्रकृति नदी को न जाने

कितनी धाराओं में तोड़ भी देती है। बिना तोड़े नदी का संगम, मिलन सागर से हो नहीं सकता। तो नदी जोड़ना, तोड़ना उसका काम है। इसे हम नहीं करें। करेंगे तो आगे पीछे पछताना भी पड़ेगा।

आज क्या हो रहा है? नदी में से साफ पानी जगह-जगह बांध, नहर बनाकर निकालते जा रहे हैं। सिंचाई, बिजली बनाने और उद्योग चलाने के लिए। विकास के लिए। अब बचा पानी तेजी से बढ़ते बड़े शहरों, राजधानियों के लिए बड़ी-बड़ी पाईप लाईन में डाल कर चुराते भी जा रहे हैं।

यह भी नहीं भूलें कि अभी तीस-चालीस बरस पहले तक इन सभी शहरों में अनगिनत छोटे-बड़े तालाब हुआ करते थे। ये तालाब चौमासे की वर्षा को अपने में संभालते थे और शहरी क्षेत्र की बाढ़ को रोकते थे और वहां का भूजल उठाते थे। यह ऊंचा उठा भूजल फिर आने वाले आठ महीने शहरों की प्यास बुझाता था। अब इन सब जगहों पर जमीन की कीमत आसमान छू रही है। इसलिए बिल्डर-नेता-अधिकारी मिल जुल कर पूरे देश के सारे तालाब मिटा रहे हैं। महाराष्ट्र में अभी कल तक 50 वर्षों का सबसे बुरा अकाल था और फिर उसी महाराष्ट्र के पुणे, मुंबई में मानसून एक ही दिन की वर्षा में बाढ़ आ गई है।

अच्छा हो या बुरा हो, हर युग में एक विचार ऊपर उठ आता है। उसका झंडा सब जगह लहरा जाता है। उसका रंग इतना जादुई, इतना चोखा होता है कि वह हर रंग के दूसरे नए, पुराने झंडों पर चढ़ जाता है। तिरंगा, लाल, दुरंगा और भगवा सब तरह के झंडे उसको नमस्कार करते हैं, उसी का गान गाते हैं। उस युग के उस दौर के करीब-करीब सभी मुखर लोग, मौन लोग भी उसे एक मजबूत विचार की तरह अपना लेते हैं।

इंद्र का एक सुंदर पुराना नाम, एक पर्यायवाची शब्द है पुरंदर। यानी पुरों को, किलों को, शहरों को तोड़ने वाला। यदि हमारे शहर इंद्र से मित्रता कर उसका पानी रोकना नहीं जानते तो फिर वह पानी बाढ़ की तरह हमारे शहरों को नष्ट करेगा ही। यह पानी बह गया तो फिर गर्मी में अकाल भी आएगा ही। यह हालत सिर्फ हमारे यहां नहीं, सभी देशों में हो चली है। थाईलैंड की राजधानी दो वर्ष पहले छह महीने बाढ़ में डूबी रही थी। इस साल दिल्ली के हवाई अड्डे में पहली ही बरसात में 'आगमन' क्षेत्र में बाढ़ का आगमन हो गया था।

वापस गंगा लौटें। पिछले कुछ दिनों से उत्तराखंड की बाढ़ की, गंगा की बाढ़ की टीवी पर चल रही खबरों को एक बार फिर याद करें। नदी के धर्म को

भूल कर हमने अपने अहम् के प्रदर्शन के लिए तरह-तरह के भद्दे मंदिर बनाए, धर्मशालाएं बनाईं, नदी का धर्म सोचे बिना। हाल की बाढ़ में मूर्तियां ही नहीं, सब कुछ गंगा अपने साथ बहा ले गई।

तो नदी से सारा पानी विकास के नाम पर निकालते रहें, जमीन की कीमत के नाम पर तालाब मिटाते जाएं, और फिर सारे शहरों, खेतों की सारी गंदगी, जहर नदी में मिलाते जाएं। फिर सोचें कि अब कोई नई योजना बना कर हम नदी भी साफ कर लेंगे। नदी ही नहीं बची। गंदा नाला बनी नदी साफ होने से रही। गुजरात के भरुच में जाकर देखिए रसायन उद्योग ने विकास के नाम पर नर्मदा को किस तरह बर्बाद किया है।

नदियां ऐसे साफ नहीं होंगी। हमें हर बार निराशा ही हाथ लगेगी। तो क्या आशा बची ही नहीं? ऐसा नहीं है। आशा है, पर तब जब हम फिर से नदी धर्म ठीक से समझें। विकास की हमारी आज जो इच्छा है, उसकी ठीक जांच कर सकें। बिना कटुता के। गंगा को, हिमालय को कोई चुपचाप षड्यंत्र करके नहीं मार रहा। ये तो सब हमारे ही लोग हैं। विकास, जी.डी.पी., नदी जोड़ो, बड़े बांध सब कुछ हो रहा है। हजारों लोग षड्यंत्र नहीं करते। कोई एक चुपचाप करता है गलत काम। इसे तो विकास, सबसे अच्छा काम मानकर सब लोग कर रहे हैं। पक्ष भी, विपक्ष भी सभी मिलकर इसे कर रहे हैं। यह षड्यंत्र नहीं, सर्वसम्मति है।

पर फिर न जाने कब विकास नाम के एक नए धर्म का झंडा सबसे ऊपर लहराने लगा। इस झंडे के नीचे हर नदी पर बड़े-बड़े बांध बनने लगे। एक नदी घाटी का पानी नदी धर्म के सारे अनुशासन तोड़ दूसरी घाटी में ले जाने की बड़ी-बड़ी योजनाओं पर नितांत भिन्न विचारों के राजनैतिक दलों में भी गजब की सर्वानुमति दिखने लगती है।

विकास के इस झंडे तले पक्ष-विपक्ष का भेद भी समाप्त हो जाता है। हमारी लीला ताई ने हमें मराठी की एक बहुत विचित्र कहावत सुनाई थीः रावणा तोंडी रामायण। रावण खुद बखान कर रहा है रामायण की कथा। हिमालय में, गंगा में, गांवों, शहरों में हम विकास के नाम पर ऐसे काम न करें जिनके कारण ऐसी बर्बादी आती हो। नहीं तो हमें रावण की तरह अपनी खुद की बर्बादी का बखान करना पड़ेगा।

18 जून, 2013 को गंगा प्रसंग में दिए गए एक भाषण से।

*

बंदूक की नली से शांति नहीं निकलती

रामचंद्र गुहा

आज से कोई सात साल पहले गरमी की एक दोपहर में मैं महेन्द्र कर्माजी से मिला था। वे छत्तीसगढ़ कांग्रेस के नेता थे। पिछले दिनों छत्तीसगढ़ के दंतेवाड़ा जिले में नक्सलवादियों ने उनकी कई साथियों के साथ हत्या कर दी है। सन् 2006 में श्री कर्मा के साथ हुई बातचीत में मैं अकेला नहीं था। मेरे साथ सामाजिक कामों में रुचि रखने वाले पांच अन्य साथी भी शामिल थे। हमारी चिंता थी राज्य में फैलता वह गृहयुद्ध और हिंसा जिसमें एक तरफ तो नक्सलवादी खड़े थे तो दूसरी तरफ श्री महेन्द्र कर्माजी के सुझाव पर बनी एक विचित्र सशस्त्र टुकड़ी। इसका नाम था सलवा जुडूम– यानि शांति का अभियान। महेन्द्र कर्मा ने ही सलवा जुडूम का प्रस्ताव रखा था। तब वे विधान सभा में प्रतिपक्ष के नेता थे। और आश्चर्यजनक रूप से उन्हें इस काम में छत्तीसगढ़ में बीजेपी की सरकार के मुख्यमंत्री रमण सिंहजी का पूरा साथ मिला था।

छत्तीसगढ़ में नक्सलवादी आंदोलन कोई नया नहीं है। बस्तर के क्षेत्र में यह सन् 80 के बाद से धीरे-धीरे जगह बनाने लगा था। पुलिस पर हमले, जंगल में ठेका लेने वाले व्यापारियों को तंग करना और यहां के निवासियों के पक्ष में अधिक मजदूरी आदि की मांगें यहां इस आंदोलन की सक्रियता बढ़ाती गईं। फिर उसकी उपस्थिति एक बड़े क्षेत्र में बढ़ती ही चली गई। माओवादी विचारधारा के कुछ प्रमुख लोगों को तो यह भी लगने लगा था कि दंतेवाड़ा में शीघ्र ही एक मुक्त क्षेत्र की स्थापना की जा सकेगी। पड़ोस के आंध्र और महाराष्ट्र में भी इस विचार के संगठन इसी बीच फले-फूले थे। इस तरह इन दोनों जगहों से अनेक युवक युवतियां बस्तर के इस इलाके में अपने इस 'मुक्त' सपने को पूरा करने कूद पड़े थे।

इन माओवादियों का हिंसा से जो लगाव है, उसे अलग से बताने की जरूरत नहीं। उनकी हिंसा की यह पूजा लोकतंत्र और उससे जुड़ी आस्थाओं

के लिए एक गंभीर चुनौती है ही। ऐसे में एक लोकतांत्रिक तरीके से चुनी गई छत्तीसगढ़ की सरकार इस समस्या से, इस चुनौती से भला कैसे निपटेगी? इसके लिए वह दो विभिन्न लेकिन परस्पर पूरक योजनाओं पर काम कर सकती थी। एक. सख्ती के साथ उन क्षेत्रों में काम, निगरानी और इस सबके माध्यम से ऐसा प्रयास कि वहां हिंसा का संगठन छिन्न-भिन्न किया जा सके। दो. असंतोष के इन क्षेत्रों में लोगों के लोकतांत्रिक अधिकारों का पालन करते हुए उन्हें जंगल और जमीन के हक देना, बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं और शिक्षा के अवसर जुटाना।

छत्तीसगढ़ सरकार ये दोनों काम नहीं कर पाई। एक तरफ तो उसने ग्राम पंचायतों और अन्य लोगों के भारी विरोध के बाद भी उद्योगपतियों को इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर जमीन बांटी। कीमती खनिज के खनन की लंबी-चौड़ी योजनाओं की स्वीकृति दी और दूसरी तरफ उसने सलवा जुडूम के जरिए बंदूक से बंदूक लड़वाने का काम किया। शुरु के दौर में तो सलवा जुडूम ने भी अनेक ऐसे काम किए जिन्हें देखकर या सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते थे। इसने भी घरों को जलाया। गांव के गांव उजाड़ दिए। अनाज भरी रामकोठियां तोड़ीं तथा वही सब कुछ किया जो साथ न देने वाले गांव में नक्सलवादी करते आए होंगे।

ग्राम पंचायतों और अन्य लोगों के भारी विरोध के बाद भी उद्योगपतियों को इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर जमीन बांटी गई। कीमती खनिज के खनन की लंबी-चौड़ी योजनाओं की स्वीकृति दी गई और दूसरी तरफ सलवा जुडूम के जरिए बंदूक से बंदूक लड़वाने का काम किया। शुरु के दौर में तो सलवा जुडूम ने भी अनेक ऐसे काम किए जिन्हें देखकर या सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते थे।

क्रिया-प्रतिक्रिया फिर और क्रिया-प्रतिक्रिया– यह सब बढ़ता चला गया वहां। माओवादी गुटों ने भी अपनी गतिविधियां और तेज कर दीं। वे सलवा जुडूम में शामिल हो रहे लोगों को चुन-चुन कर मारने लगे। पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों पर भी इनके हमले बढ़े। दोनों तरफ की इस हिंसा की चपेट में पूरा क्षेत्र बुरी तरह से बर्बाद हुआ। कहा जाता है कि कोई डेढ़ लाख लोगों ने अपने घर और गांव छोड़कर कहीं और शरण ली। कई लोगों ने तो जिले की सड़कों के किनारे डेरा डाला। अपना घर-बार, खेत-खलिहान अपने देवी-देवता, ढोर-डंगर सब कुछ छोड़कर सड़क के किनारे फटे पुराने टेंटों में रहना उन्हें ज्यादा सुरक्षित दिखा होगा।

सन् 2006 में ऐसी ही सब बातों को सुनकर हमने अपने कुछ साथियों के साथ छत्तीसगढ़ में आकर परिस्थिति को समझने का एक प्रयास किया था। इस दौरान हमने दंतेवाड़ा को एक कोने से दूसरे कोने तक छाना। हम सब तरह के लोगों से मिले। नक्सलवादियों से मिले, सलवा जुडूम के लोगों से मिले। और मिले अनगिनत गांव वालों से। उनसे भी मिले, जिन्हें माओवादियों ने तंग किया था और उनसे भी, जिन्हें सलवा जुडूम ने सताया था। एक ने हमें बताया था, "एक तरफ हैं नक्सलवादी और एक तरफ है सलवा जुडूम। हम तो इन दोनों पाटों के बीच में पिस गए हैं।"

हम सलवा जुडूम के जनक महेन्द्र कर्माजी से भी मिले। उन्होंने हमें बताया कि वे तो एक धर्मयुद्ध लड़ रहे हैं। हमने उन्हें बताया उन घरों, गांवों के बारे में, जिन्हें सलवा जुडूम के लोगों ने जला दिया था। और जानकारी दी लूट-पाट की तमाम घटनाओं की। तब उन्होंने कहा था कि एक बड़े आंदोलन में ऐसी छोटी-छोटी गलतियां हो ही जाती हैं।

फिर हम राज्य की राजधानी रायपुर भी आए। हमने यहां सरकार के कई बड़े अधिकारियों से बात की। कुछ ने दबी जुबान में हमें बताया कि सलवा जुडूम का ढांचा खड़ा करना एक बड़ी भयानक गलती थी। लेकिन यह भी जोड़ा कि कोई भी राजनेता इस बात को स्वीकार नहीं करेगा। इसके बाद हम सलवा जुडूम के जनक महेन्द्र कर्माजी से भी मिले। उन्होंने हमें बताया कि वे तो एक धर्मयुद्ध लड़ रहे हैं। हमने उन्हें बताया उन घरों, गांवों के बारे में, जिन्हें सलवा जुडूम के लोगों ने जला दिया था। और जानकारी दी लूट-पाट की तमाम घटनाओं की। तब उन्होंने कहा था कि एक बड़े आंदोलन में ऐसी छोटी-छोटी गलतियां हो ही जाती हैं।

रायपुर से हम दिल्ली आए। यहां हम प्रधानमंत्री, गृहमंत्री और राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार से भी मिले। जो त्रासदी छत्तीसगढ़ में घट रही थी, उसके प्रति सर्वोच्च पदों पर बैठे इन लोगों का उपेक्षाभाव देखकर हमें हैरानी भी हुई और बहुत दुख भी। हमने इसीलिए सन् 2007 में देश की सबसे बड़ी अदालत में सलवा जुडूम के खिलाफ एक जनहित याचिका दायर की।

चार साल लगे। बड़ी अदालत ने छत्तीसगढ़ सरकार की निंदा करते हुए अपने आदेश में कहा कि समाज के वंचित वर्गों के युवाओं के हाथों में आपने बंदूक थमा दी है। इन हाथों में तो आपको किताबें रखनी चाहिए थीं, अच्छे विचार सौंपने चाहिए थे। लेकिन आपने उन्हें उन्हीं के जंगलों में लूट-पाट के

लिए खड़ा कर दिया है। यह काम मानव अधिकारों के उसी तरह हनन का है जिस तरह माओवादी, नक्सलवादियों ने यहां के वंचित युवा को हथियार थमा कर किया है।

बड़ी अदालत के इस सख्त आदेश की राज्य सरकार ने एक तरह से अवहेलना ही की। उसने सलवा जुडूम का रंग-रूप बदल कर उसे किसी तरह जारी रखा। केन्द्र सरकार ने भी इस आदेश की उपेक्षा की। राज्य में खनन करने वालों का उसने ज्यादा ध्यान रखा। ऐसे खनन से जो उजड़ेंगे, उनकी तकलीफों की उसने भी उपेक्षा ही की।

बड़ी अदालत ने छत्तीसगढ़ सरकार की निंदा करते हुए अपने आदेश में कहा कि समाज के वंचित वर्गों के युवाओं के हाथों में आपने बंदूक थमा दी है। इन हाथों में तो आपको किताबें रखनी चाहिए थीं, अच्छे विचार सौंपने चाहिए थे। लेकिन आपने उन्हें उन्हीं के जंगलों में लूट-पाट के लिए खड़ा कर दिया है। यह काम मानव अधिकारों के उसी तरह हनन का है जिस तरह माओवादी, नक्सलवादियों ने यहां के वंचित युवा को हथियार थमा कर किया है।

तो कोई दस बरस पहले शुरू हुए इस खूनी खेल, खूनी लड़ाई की यह ताजी दुखद घटना है– महेन्द्र कर्मा और उनके साथियों का मारा जाना। अब राज्य सरकार और केन्द्र सरकार क्या करेंगी? दिल्ली के अखबारों और टेलीवीजनों में काम करने वाले पत्रकारों की पहली प्रतिक्रिया क्या होनी चाहिए? अक्सर यही होगी कि सेना बुला लो और कम पड़े तो वायु सेना भी उड़ा दो और उन माओवादियों के खिलाफ अब अंतिम युद्ध लड़ लो। इसमें उन्हें उन इलाकों में रहने वाले नागरिकों का ध्यान शायद ही रहेगा। आशा तो की जानी चाहिए कि इससे बेहतर सलाह भी मिलेगी सरकार को, जिसमें संयम और विवेक जरूर होगा।

दंतेवाड़ा के उस प्रसंग के आसपास ही मैं भुवनेश्वर में एक भाषण देने के लिए बुलाया गया था। श्रोताओं में उड़ीसा के मुख्यमंत्री श्री नवीन पटनायक भी बैठे थे। तब मैंने भाषण में सबसे यह अनुरोध किया था कि उड़ीसा राज्य सरकार आदिवासी क्षेत्रों में खनन की योजनाओं को आगे बढ़ाने में जो तीव्रता दिखा रही है, उसे रोका जाना चाहिए। लेकिन राज्य ने उस मामले को गंभीरता से लेने के बजाय न केवल देश की बल्कि विदेश की कंपनियों को भी खनन का न्यौता दे डाला था। इसमें सरकार ने कभी भी इसका ध्यान नहीं रखा कि वहां रहने वाले वंचितों के इसमें क्या अधिकार

होंगे। उन्हीं की जमीन से आई यह नई समृद्धि उन्हें पहले से अधिक वंचित तो नहीं बना देगी? हुआ ऐसा ही। अभी कुछ ही पहले तक उड़ीसा राज्य नक्सली प्रभाव से बिलकुल मुक्त था। लेकिन अब अनेक जिलों में इसने अपनी जड़ें जमा ली हैं।

समाज विज्ञानी श्री अजय दांडेकर ने इस विषय पर बहुत काम किया है। वे कहते हैं कि देश के इन क्षेत्रों में लोकतंत्र और प्रशासन की भयानक कमी के कारण ही ऐसी हिंसा की विचारधारा पनपी है। वे ये भी कहते हैं कि अभी भी देर नहीं हुई है। हमारा राजनैतिक नेतृत्व पूरे मन से इन इलाकों में न्याय का विचार लेकर पूरी दृढ़ता से पहुंचे तो हिंसा आधारित इस आंदोलन को कड़ी चुनौती मिलेगी और उन्हें अपने अस्तित्व को बनाए रखना कठिन हो जाएगा।

प्रधानमंत्री और यूपीए की अध्यक्ष छत्तीसगढ़, झारखंड और उड़ीसा के हिंसा ग्रस्त इलाकों में संयुक्त दौरे करें। वहां तमाम तरह के लोगों से मिलें। वहां वे वायदा करें कि इन इलाकों में वनवासियों के साथ न्याय होगा। ग्रामपंचायतों को उनके अधिकार वापस मिलेंगे। उनके वन अधिकार उनको सौंपे जाएंगे।

एक बड़े कदम की तरह देश का शीर्ष नेतृत्व इन इलाकों से सीधा संवाद कायम करे। प्रधानमंत्री और यूपीए की अध्यक्ष छत्तीसगढ़, झारखंड और उड़ीसा के हिंसा ग्रस्त इलाकों में संयुक्त दौरे करें। वहां तमाम तरह के लोगों से मिलें। वहां वे वायदा करें कि इन इलाकों में वनवासियों के साथ न्याय होगा। ग्रामपंचायतों को उनके अधिकार वापस मिलेंगे। उनके वन अधिकार उनको सौंपे जाएंगे और ऐसे क्षेत्रों में चलने वाली खनन आदि की विभिन्न योजनाएं रोकी जाएंगी।

हिंसा की ताकतों से निपटने का यह बहुत ही सक्षम तरीका होगा बजाय सशस्त्र सेनाओं की टुकड़ियों और वायुसेना के जहाज भेजने के।

लेखक जाने-माने इतिहासकार हैं। इनकी अनेक पुस्तकों ने खूब प्रसिद्धी पाई है। 'इंडिया आफ्टर गांधी' विशेष चर्चित रही है। 'द हिन्दू' से साभार

अंग्रेजी से हिंदी अ.मि. द्वारा।

*

उर्वरता की हिंसक भूमि

सोपान जोशी

सन् 1908 में हुई एक वैज्ञानिक खोज ने हमारी दुनिया बदल दी है। शायद किसी एक आविष्कार का इतना गहरा असर इतिहास में नहीं होगा। आज हममें से हर किसी के जीवन में इस खोज का असर सीधा दीखता है। इससे मनुष्य इतना खाना उगाने लगा है कि एक शताब्दी में ही चौगुनी बढ़ी आबादी के लिए भी अनाज कम नहीं पड़ा। लेकिन इस आविष्कार ने हिंसा का भी एक ऐसा रास्ता खोला है, जिससे हमारी कोई निजाद नहीं है। दो विश्व युद्धों से लेकर आतंकवादी हमलों तक। जमीन की पैदावार बढ़ाने वाले इस आविष्कार से कई तरह के वार पैदा हुए हैं, चाहे विस्फोटकों के रूप में और चाहे पर्यावरण के विराट प्रदूषण के रूप में।

इस साल 17 अप्रैल को एक बड़ा धमाका हुआ था। इसकी गूंज कई दिनों तक दुनिया भर में सुनाई देती रही थी। अमेरिका के टेक्सास राज्य के वेस्ट नामक गांव में हुए इस विस्फोट से फैले दावानल ने 15 लोगों को मारा था और कोई 180 लोग हताहत हुए थे। हादसे तो यहां-वहां होते ही रहते हैं और न जाने कितने लोगों को मारते भी हैं। लेकिन यह धमाका कई दिनों तक खबर में बना रहा। इससे हुए नुकसान के कारण नहीं, जिस जगह यह हुआ था, उस वजह से।

धमाका किसी आतंकवादी संगठन के हमले से नहीं हुआ था। उर्वरक बनाने के लिए काम आने वाले रसायनों के एक भंडार में आग लग गई थी। कुछ वैसी ही जैसी कारखानों में यहां-वहां कभी-कभी लग जाती है। दमकल की गाड़ियां पहुंचीं और अग्निशमक दल अपने काम में लग गया। लेकिन उसके बाद जो धमाका हुआ, उसे आसपास रहने वाले लोगों ने किसी एक भूचाल की तरह

महसूस किया। अमेरिका के भूगर्भ सर्वेक्षण के उपकरणों पर यह धमाका 2.1 की प्रबलता के भूकंप की तरह दर्ज किया गया था। धुएं से यहां का जीवन कई रोज तक अस्त-व्यस्त रहा। इससे इतनी गर्मी निकली थी कि आसपास के भवन जले हुए ठूंठ से दिखने लगे थे। यह कोई अणुबम नहीं था।

इस कारखाने में अमोनियम नाइट्रेट नाम के रसायन का भंडार था, जिसका उपयोग यूरिया जैसी खाद बनाने के लिए होता है। इस खाद से फसलों की पैदावार में धमाकेदार बढ़ोतरी होती है। उर्वरक के कारखाने में यह पहला धमाका नहीं था। सन् 2009 में टेक्सास राज्य में ही जुलाई 30 को ब्राएन नामक नगर में ऐसे ही एक कारखाने में अमोनियम नाइट्रेट के भंडार में धमाका हुआ था। किसी की जान नहीं गई थी। पर 80,000 से ज्यादा लोगों को निकाल कर पूरा शहर खाली करवाना पड़ा था, जहरीले धुएं से बचने के लिए। सन् 1947 में टेक्सास सिटी में ही ऐसे ही एक हादसे में 581 लोगों की जानें गई थीं। दमकल विभाग के कर्मचारियों में केवल एक जीवित बचा था। दो छोटे हवाई जहाज उड़ते-उड़ते नीचे गिर पड़े थे। धमाका इतना भयानक था कि उसकी ध्वनि तरंगों से 65 किलोमीटर दूर के घरों के शीशे टूट गए थे। टेक्सास सिटी डिजास्टर के नाम से कुख्यात यह अमेरिका की सबसे बड़ी औद्योगिक दुर्घटना मानी गई थी। इसे आज तक के सबसे शक्तिशाली धमाकों में गिना जाता है।

दुनिया के कई हिस्सों में ऐसे ही हादसे छोटे-बड़े रूप में होते रहे हैं। इनको जोड़ने वाली कड़ी है उर्वरक के कारखाने में अमोनियम नाइट्रेट। आखिर खेती के लिए इस्तेमाल होने वाले इस रसायन में ऐसा क्या है कि इससे इतनी तबाही मच सकती है? इसके लिए थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा उन कारणों को जानने के लिए, जिनसे हरित क्रांति के उर्वरक तैयार हुए थे।

दुनिया के कई हिस्सों में ऐसे ही हादसे छोटे-बड़े रूप में होते रहे हैं। इनको जोड़ने वाली कड़ी है उर्वरक के कारखाने में अमोनियम नाइट्रेट। आखिर खेती के लिए इस्तेमाल होने वाले इस रसायन में ऐसा क्या है कि इससे इतनी तबाही मच सकती है? इसके लिए थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा उन कारणों को जानने के लिए, जिनसे हरित क्रांति के उर्वरक तैयार हुए थे। यह किस्सा शुरू होता है बीसवीं शताब्दी के साथ।

औद्योगिक क्रांति की वजह से यह समय यूरोप में उथल-पुथल का था। यूरोप के देशों में राष्ट्रवाद एक बीमारी की तरह फैल चला था और पड़ोसी देशों में उन्मादी होड़ पैदा कर रहा था। आबादी बहुत तेजी से बढ़ी थी, जिसका एक

कारण यह था कि विज्ञान ने कई विकट बीमारियों के इलाज ढूंढ़ लिए थे। कारखानों में काम करने के लिए लोग गांवों से शहरों में आ रहे थे। इतने लोगों को खिलाने जितनी पैदावार तब यूरोप के खेतों में नहीं थी। कृषि वैज्ञानिकों के अनुसंधान से यह पता चल चुका था कि हर तरह के पौधों में खास उर्वरक नाइट्रोजन, फॉसफोरस और पोटेशियम होते हैं। यह भी कि इन्हें पाने में सबसे कठिन नाइट्रोजन के उर्वरक होते हैं। नाइट्रोजन की हवा में तो खूब भरमार है, लेकिन किसी के पास ऐसा तरीका नहीं था जो उसे हवा से खींच कर ऐसे रासायनिक रूप में ले आए जो पौधों के काम आसानी से आ जाए। पौधे उसे अपनी खुराक की तरह सोख लें।

खेतों में उर्वरता बढ़ाने के लिए नाइट्रोजन के उर्वरक पाने के लिए यूरोप दुनिया के कोने-कोने खंगाल रहा था। ऐसा एक स्रोत था 'गुआनो'। यह आता था दक्षिण अमेरिका के पश्चिमी छोर से दूर, प्रशांत महासागर के द्वीपों से। गुआनो असल में चिड़िया की बीट है। इन निर्जन द्वीपों पर न जाने कब से समुद्री चिड़ियाओं का वास था, जो समुद्र से मछली और दूसरे प्राणियों का शिकार करती हैं। अनगिनत इन चिड़ियों की बीट इन द्वीपों पर जम जाती थी और वहां इनके पहाड़ खड़े हो गए थे। बारिश कम होने के कारण ये पहाड़ जैसे के तैसे बने रहे और इनके उर्वरक गुण धुले नहीं थे। कुछ जगह तो बीट के ये पहाड़ 150 फुट से भी ऊंचे थे।

19 वीं शताब्दी में यूरोप की गुआनो की जरूरत ही दक्षिण अमेरिका में यूरोपीय रुचि का खास कारण बन गई। इस क्षेत्र पर इन्हीं सब कारणों से यूरोप के लोगों का कब्जा हुआ। इसके बाद गुआनो का खनन और निर्यात बहुत तेजी से हुआ। सन् 1840 के दशक में गुआनो का व्यापार पेरू की सरकार की आमदनी का सबसे बड़ा स्रोत बन गया था। विशाल जहाजों में लाद कर इसे यूरोप के खेतों में डालने के लिए लाया जाता था।

कोई 1,500 साल पहले पेरू में गुआनो का उपयोग खेती में खाद की तरह होता था। इंका साम्राज्य के समय समारोहों में इस गुआनो बीट का स्थान सोने के बराबर था। गुआनो शब्द की व्युतपत्ति ही पेरू के केचूअ समाज के एक शब्द, 'हुआनो' से है। एक जर्मन अंवेषक ने सन् 1803 में गुआनो के गुण जाने, और फिर उनकी लिखाई से पूरे यूरोप का परिचय चिड़िया की बीट से निकलने वाली इस खाद से हुआ था।

19 वीं शताब्दी में यूरोप की गुआनो की जरूरत ही दक्षिण अमेरिका में यूरोपीय रुचि का खास कारण बन गई। इस क्षेत्र पर इन्हीं सब कारणों से यूरोप

के लोगों का कब्जा हुआ। इसके बाद गुआनो का खनन और निर्यात बहुत तेजी से हुआ। इस बीट से सैकड़ों बरसों में बने पहाड़ देखते ही देखते कटने लगे। सन् 1840 के दशक में गुआनो का व्यापार पेरू की सरकार की आमदनी का सबसे बड़ा स्रोत बन गया था। विशाल जहाजों में लाद कर इसे यूरोप के खेतों में डालने के लिए लाया जाता था। फिर दुनिया के कई और हिस्सों से इसका निर्यात यूरोप होने लगा। इसे निकालने के लिए चीन से मजदूर भी लाए गए क्योंकि पेरू के लोग इस काम के लिए ठीक नहीं माने गए। गुआनो पर कब्जा बनाए रखने के लिए युद्ध तक लड़े गए थे।

यह पदार्थ ज्वलनशील होता है, खासकर नाइट्रोजन से मिलने के बाद। गुफाओं में चमगादड़ों की बीट में आग लगने के प्रमाण भी मिलते हैं। गुआनो का उपयोग विस्फोटक बनाने में भी होने लगा था। पेरू और पड़ोसी देश चिली में ही सॉल्टपीटर, यानि पोटेशियम नाइट्रेट नाम के खनिज मिल गए थे। अब गुआनो और सॉल्टपीटर यूरोप के लिए खाद ही नहीं, विस्फोटक बनाने के लिए कच्चे माल का स्रोत भी बन गए थे। दोनों के लिए नाइट्रोजन लगता है, पर युद्ध और खाद के नाइट्रोजन संबंध की बात बाद में।

इन दोनों पदार्थों को जहाज पर लाद कर यूरोप ले जाना बहुत खर्चीला सौदा था। और धीरे-धीरे गुआनो के पहाड़ भी खतम होने लगे थे। चिड़ियां बीट अपने लिए करती थीं, यूरोप के लिए थोड़े ही करती थीं! इसीलिए 19 वीं सदी के अंत में यूरोप में होड़ लगी हुई थी खाद और विस्फोटक बनाने के कोई नए सस्ते तरीके खोजने की, नाइट्रोजन के स्रोत की। कई देशों के वैज्ञानिक इस पर शोध कर रहे थे। फिर सन् 1908 में जर्मन रसायनशास्त्री फ्रिट्ज हेबर ने हवा से नाइट्रोजन खींच कर अमोनिया बना कर दिखाया। सन् 1913 तक इस प्रक्रिया को बड़े औद्योगिक स्तर पर करने का तरीका भी खोज लिया गया था। बीएएसएफ नाम के एक जर्मन उद्योग में काम कर रहे कार्ल बॉश ने यह कर दिखाया था। प्रसिद्ध इंजीनियर और गाड़ियों में लगने वाले स्पार्क प्लग के आविष्कारी रॉबर्ट बॉश उनके चाचा थे। कई तरह की मशीनों पर आज भी चाचा बॉश का नाम चलता है। आज यह कंपनी भारत में भी आ गई है। आगे चल कर इस प्रक्रिया को दोनों वैज्ञानिकों के नाम पर 'हेबर-बॉश प्रॉसेस' कहा गया।

इस समय यूरोप में राष्ट्रवाद का बोलबाला था और जर्मनी और इटली जैसे देश कई छोटी रियासतों के विलय से ताकतवर बन चुके थे। राष्ट्रवाद की धौंस ही सन् 1914 में पहले विश्व युद्ध का कारण बनी थी। इंग्लैंड की नौसेना ने जर्मनी की नाकेबंदी कर ली थी इसलिए जर्मनी को अब गुआनो और सॉल्टपीटर मिलना बंद हो गया था। तब हवा से अमोनिया बनाने वाली हेबर-बॉश पद्धति से न

केवल जर्मनी में यह बनावटी खाद बनती रही, युद्ध में इस्तेमाल होने वाला उनका असला और विस्फोटक भी इसी अमोनिया से बनने लगा। ऐसा माना जाता है कि अमोनिया बनाने का यह तरीका अगर जर्मनी के पास न होता तो पहला विश्व युद्ध काफी पहले खतम हो जाता।

युद्ध के बाद वैज्ञानिक श्री फ्रिट्ज और श्री बॉश को उनकी खोज के लिए नोबेल पुरस्कार दिया गया। इसमें कोई विरोधाभास नहीं था क्योंकि जिन अलफ्रेड नोबेल के नाम से यह पुरस्कार दिया जाता है, उन्होंने खुद डाएनामाइट ईजाद किया था और बोफोर्स नाम की कंपनी को इस्पात के कारोबार से हटाकर विस्फोटक के उत्पादन में लगा दिया था। पुरस्कार पाते वक्त श्री फ्रिट्ज ने अपने भाषण में कहा था कि इस आविष्कार के पीछे उनका ध्येय उस नाइट्रोजन को मिट्टी में वापस पहुंचाना है जो फसल के साथ बाहर निकल आती है। लेकिन यह सभी को पता था कि उनका एक ध्येय और भी था। अपने प्रतिक्रियाशील रूप में नाइट्रोजन विस्फोटकों को भी बनाती है। इसका कारण था श्री फ्रिट्ज का राष्ट्रवाद। उन्होंने कहा था कि शांति के समय वैज्ञानिक सभी लोगों के भले के लिए काम करता है पर युद्ध के समय में तो वह केवल अपने देश का होता है!

पहली बार युद्ध के दौरान जहरीली गैस का उपयोग 22 अप्रैल सन् 1915 को हुआ था। और इसके निर्देशन के लिए श्री फ्रिट्ज खुद बेलजियम गए थे। वापस लौटने पर इसे लेकर उनकी पत्नी क्लॅरा से उनकी खूब बहस हुई थी। सुश्री क्लॅरा रासायनिक हथियारों को अमानवीय मानती थीं और इसलिए इसे बनाने और दूसरे पक्ष पर इसका उपयोग वे एक अक्षम्य अपराध मानती थीं।

सन् 1871 में जर्मन भाषा बोलने वाले देशों में सबसे बड़ा क्षेत्र प्रशिया फ्रांस के साथ युद्ध लड़ रहा था। इस युद्ध के दौरान दूसरी जर्मन भाषा बोलने वाले देश भी प्रशिया के झंडे के नीचे एक साम्राज्य के रूप में जुड़ गए थे और इस तरह जर्मन राष्ट्र का उदय हुआ था। इस युद्ध ने यूरोप की राजनीति ही बदल दी थी। इकट्ठे होने से जर्मन राज्यों में राष्ट्रवाद की लहर चल रही थी। श्री फ्रिट्ज भी इससे अछूते नहीं थे। उनका शोध केवल हवा से नाइट्रोजन खींचने तक सीमित नहीं था। उन्हीं की एक और ईजाद थी युद्ध में इस्तेमाल होने वाली जहरीली गैस। उनका कहना था कि वे ऐसा हथियार ईजाद करना चाहते थे जो उनके देश को जल्दी से जीत दिला सके।

ऐसा ही एक हथियार था क्लोरीन गैस। इसका इस्तेमाल करके श्री फ्रिट्ज ने रासायनिक युद्ध की शुरूआत की थी। उन्हें आज भी रासायनिक

हथियारों के जनक की तरह याद किया जाता है। पहली बार युद्ध के दौरान जहरीली गैस का उपयोग 22 अप्रैल सन् 1915 को हुआ था । और इसके निर्देशन के लिए श्री फ्रिट्ज खुद बेलजियम गए थे। वापस लौटने पर इसे लेकर उनकी पत्नी क्लॅरा से उनकी खूब बहस हुई थी। सुश्री क्लॅरा रासायनिक हथियारों को अमानवीय मानती थीं और इसलिए वे इसे बनाने और दूसरे पक्ष पर इसका उपयोग एक अक्षम्य अपराध मानती थीं। इस घटना के दस दिन बाद ही सुश्री क्लॅरा ने अपने पति की पिस्तौल को अपने पर चलाकर आत्महत्या कर ली थी और अपने 13 साल के बेटे हरमॅन की गोदी में प्राण त्याग दिए थे। लेकिन श्री फ्रिट्ज अगले ही दिन रासायनिक हथियारों को रूस की सेना पर इस्तेमाल करवाने के लिए लड़ाई के मोर्चे पर चले गए थे!

सन् 1918 में जर्मनी की हार हो गई। विश्वयुद्ध खतम हुआ। लेकिन अब अमोनिया बनाने के कई कारखाने यूरोप और अमेरिका में खुल चुके थे। यूरोप का माहौल राष्ट्रवादी ही बना रहा और फिर बीस साल में दूसरा विश्व युद्ध छिड़ गया। हेबर-बॉश पद्धति को अब तक हर कहीं अपना लिया गया था और विस्फोटक बनाने के लिए ढेर सारा अमोनिया हर देश के हाथ लग गया था। दूसरा विश्व युद्ध भी समाप्त हुआ। लेकिन इन कारखानों को बंद नहीं किया गया। यह तो सबको पता था कि अमोनिया से बनावटी उर्वरक भी बनाए जा सकते हैं। इन कारखानों को यूरिया की खाद बनाने में लगा दिया गया।

इसी दौरान गेहूं की ऐसी फसलें भी ईजाद हुईं जो इस यूरिया को मिट्टी से उठाने में सक्षम थीं। ये फसलें बहुत तेजी से बढ़ती थीं और इनमें अनाज की पैदावार बहुत ज्यादा थी। इन फसलों और यूरिया के संयोग से ही हरित क्रांति हुई और खेती में उत्पादन इतना बढ़ गया जितना पहले कभी नहीं बढ़ पाया था। इन फसलों को ईजाद करने वाले कृषि वैज्ञानिक नॉर्मन बोरलॉग को भी फ्रिट्ज की ही तरह नोबेल पुरस्कार दिया गया था।

एक मोटा अंदाज बताता है कि हेबर-बॉश पद्धति से जिस जमीन से कोई 20 लोगों का अनाज पैदा होता था, उतनी ही जमीन आज 40 लोगों का अनाज पैदा करती है। एक विख्यात वैज्ञानिक का अनुमान है कि दुनिया की कुल आबादी का 40 फीसदी आज इसी पद्धति से उगा खाना खाता है। इतने भोजन के होने से और जानलेवा बीमारियों के इलाजों की खोज होने से मनुष्य को इतनी शक्ति मिली जितनी उसे पहले कभी नहीं मिली थी। 20वीं शताब्दी में मनुष्य की आबादी चौगुनी बढ़ गई। बी.ए.एस.एफ. नाम की जिस कंपनी

के लिए श्री कार्लबॉश काम करते थे, वह आज दुनिया की सबसे बड़ी रसायन बनाने वाली कंपनी मानी जाती है।

श्री फ्रिट्ज की इस खोज ने दुनिया बदल दी है। कारखानों में पैदा होने वाले यूरिया के असर को कई वैज्ञानिक बीसवीं सदी का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार मानते हैं। हवा से नाइट्रोजन खींचने के लिए बहुत तेज तापमान और दबाव में पानी से हाइड्रोजन निकाला जाता था। इतना दबाव और गर्मी बनाने के लिए बहुत सी ऊर्जा खर्च होती थी। आज इस पद्धति को और कारगर बनाया गया है और अब पानी की जगह प्राकृतिक गैस का इस्तेमाल होता है।

इस तरह उर्वरता बढ़ाने वाली खाद ने अनाज का उत्पादन तो बढ़ाया ही लेकिन साथ ही उसने एक और हिंसक रूप भी धारण किया था। हिंसा की जमीन भी उसने पहले से कुछ ज्यादा उर्वरक बना दी है।

लेकिन आज नाइट्रोजन का जिक्र पैदावार के संदर्भ में कम और प्रदूषण के कारण ज्यादा होता है। हमारे देश में ही सस्ते यूरिया के ताबड़तोड़ इस्तेमाल से जमीन के रेतीले और तेजाबी होने का खतरा बढ़ता जा रहा है। किसानों को सस्ते बनावटी उर्वरकों का इतना नशा हो चुका है कि जमीन बिगड़ती दिख रही हो फिर भी वे यूरिया डालते ही जाते हैं। यूरिया से लंबे हुए पौधों पर फसलों को नुकसान पहुंचाने वाले कीड़े ज्यादा आते हैं। इसलिए उन पर कीटनाशकों का छिड़काव भी उतना ही ज्यादा किया जाता है।

इस तरह हम आज नाइट्रोजन की भरमार के युग में रह रहे हैं। विज्ञान हमें बता रहा है कि नाइट्रोजन के प्राकृतिक चक्र में मनुष्य ने इतना बदलाव ला दिया है कि यह कार्बन के उस चक्र से भी ज्यादा बिगड़ गया है, जिसकी वजह से जलवायु परिवर्तन हो रहा है। जमीन पर छिड़के नाइट्रोजन के यूरिया जैसे उर्वरकों का अधिकांश हिस्सा पौधों में नहीं जाता। आज हेबर-बॉश पद्धति से बने उर्वरक का खेती में इस्तेमाल 10 करोड़ टन है। इसमें से लोगों के भोजन में केवल 1.7 करोड़ टन वापस आता है। बाकी भाग पर्यावरण को दूषित करता है।

यह पानी के साथ बह कर जल स्रोतों में पहुंचता है, जहां इसकी मौजूदगी जहरीली काई का रूप लेती है। यह पानी से प्राणवायु खींच लेती है और नीचे के समस्त जीवन का दम घुटता है। ऐसे ही बरबाद होने वाले नाइट्रोजन का एक अंश प्रतिक्रियाशील होकर वातावरण में जाता है और जलवायु परिवर्तन करता है।

लेकिन हेबर-बॉश पद्धति का एक और असर है। अमोनिया के कारखाने बनाने में हर देश का सैनिक ध्येय भी होता है। युद्ध के समय यही कारखाने

विस्फोटक और हथियार बनाने के काम आ सकते हैं। हेबर-बॉश पद्धति ईजाद हुए अब 100 साल हो गए हैं। एक वैज्ञानिक अनुमान कहता है कि इस शताब्दी में विस्फोटक बनाने का आधार भी हेबर-बॉश पद्धति ही रही है। वे मानते हैं कि इस पद्धति से बने असले ने दुनिया भर के सशस्त्र संघर्षों में सीधे-सीधे कोई 15 करोड़ लोगों की जानें ली हैं।

इस पद्धति के जितने नाटकीय असर दुनिया पर रहे हैं, उनसे श्री फ्रिट्ज भी बच नहीं पाए। उन्हें नोबेल पुरस्कार जैसे सम्मान मिले, उन्होंने फिर से शादी की, पर वे खुश नहीं रह पाए। इस दौरान जर्मन राष्ट्रवाद ने एडॉल्फ हिटलर की नाजी पार्टी का रूप ले लिया था। नाजी शासन की रासायनिक हथियारों में बहुत रुचि थी। उसने श्री फ्रिट्ज के सामने और अधिक शोध के लिए धन और सुविधाओं का प्रस्ताव रखा। पर इस दौरान नाजी पार्टी की यहूदियों के प्रति नफरत उजागर हो चुकी थी। कई प्रसिद्ध वैज्ञानिक जर्मनी छोड़कर इंग्लैंड और अमेरिका जा रहे थे। श्री फ्रिट्ज ने ईसाई धर्म कबूल कर लिया था, लेकिन सब जानते थे कि वे यहूदी थे। सन् 1933 में वे जर्मनी छोड़कर इंग्लैंड में केम्ब्रिज आ गए। वहां से वे यहूदियों को दी गई जमीन पर रहने के लिए फिलिस्तीन की ओर निकल पड़े थे। रास्ते में ही स्विट्जरलैंड में उनका निधन हो गया।

उनकी मृत्यु के बाद उनका परिवार भी जर्मनी छोड़कर भागा। उनकी दूसरी पत्नी और दो बच्चे इंग्लैंड आ गए थे। उनका बड़ा बेटा हरमॅन अमेरिका चला गया। सन् 1946 में उसने भी खुदकुशी कर ली। अपनी मां की ही तरह हरमॅन को भी श्री फ्रिट्ज के रासायनिक हथियार बनाने की शर्मिंदगी थी। रासायनिक हथियारों पर श्री फ्रिट्ज के शोध को नाजी सरकार ने बहुत आगे बढ़ाया। उसी से जाएक्लॉन-बी नाम की गैस बनी, जिसका इस्तेमाल बाद में नजरबंदी शिविरों में यहूदियों को मारने के लिए होता था। ऐसा कहा जाता है कि श्री फ्रिट्ज के परिवार, समाज के कई लोग इन शिविरों में इसी गैस से मारे गए थे।

इस तरह उर्वरता बढ़ाने वाली खाद ने अनाज का उत्पादन तो बढ़ाया ही लेकिन साथ ही उसने एक और हिंसक रूप भी धारण किया था। हिंसा की जमीन भी उसने पहले से कुछ ज्यादा उर्वरक बना दी है।

लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं और गांधी शांति प्रतिष्ठान,
नई दिल्ली में 'जल, थल और मल' विषय पर शोध कर रहे हैं।

*

धन-धन धान्य

रमेशदत्त शर्मा

इसके बिना न होय दिवाली इसके बिना न होय पूजा।
भुनकर खिले, उबलकर निखरे, है दुनिया में कोई दूजा?

जी ठीक ही पहचाना आपने। इसे धान, चावल, अक्षत, तंदुल किसी भी नाम से पुकारिये। जब तक बताशों के साथ खील न हो तो दिवाली कैसी? पूजा की थाली में अक्षत यानी चावल के दाने और रोली का लाल रंग न हो तो पूजा बेरंग। भुनने के बाद ऐसा खिलता है कि भुने धान की खील या मुरमुरों के लड्डू या चना-मुरमुरे भला किसे नहीं लुभाते।

झोपड़ी से लेकर आलीशान होटलों तक हर जगह दुनिया में धान की मांग है। एशिया के दो सौ करोड़ से ज्यादा लोगों की जान है धान। उधर अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में भी करोड़ों लोग चावल खाते हैं। और फिर यूरोप, अमेरिका में भी तो इस अनाज ने अपनी जगह बना ली है। धरती का हर तीसरा व्यक्ति किसी न किसी रूप में हर रोज चावल खाता है। एक सौ करोड़ से ज्यादा किसान धान की खेती से दूसरों का पेट भरते हैं और अपना पेट पालते हैं। कोई एक सौ से ज्यादा देशों में धान की खेती की जाती है। लेकिन दुनिया का 90 प्रतिशत धान एशिया में ही उगाया और खाया जाता है। धान के पौधे को हर तरह की जलवायु पसंद है। नेपाल और भूटान में 10 हजार फुट से ऊंचे पहाड़ हों, या केरल में समुद्रतल से भी 10 फुट नीचे पाताल– धान दोनों जगह लहराते हैं।

दूसरे पौधों की तरह धान भी पहले जंगल में ही उगता था– अपने आप। तेज हवा चली। पके दानों से भरी बालियां हिलीं। बीज बिखर गए। मिट्टी में गिरे। वर्षा हुई। अंकुर फूटे। करोड़ों साल तक यही सिलसिला चलता रहा होगा।

तेरह करोड़ साल पहले धरती के सातों महाद्वीप जुड़े हुए थे। फिर ये एक-दूसरे से दूर खिसकने लगे। बर्फीले ध्रुव-प्रदेश के सिवा हर जगह कहीं-न-कहीं पुराने जंगली धान मिले हैं। आज जो धान उगाया जाता है, उसका सबसे पुराना

पुरखा उत्तरी हिमालय में मिला था। यहीं से धान हमारे देश के बाकी हिस्सों में और अफ्रीका के अलावा सारे संसार में फैला।

हमारे देश में तो कुछ ऐसा है कि जहां खोदो वहीं पुराने धान निकल आते हैं। हमारे यहां कम से कम 37 जगहों की खुदाई में पुराने जमाने के धान मिले हैं। मोहनजोदड़ो (अब पाकिस्तान में) के अतिरिक्त गुजरात में लोथल और रंगपुर में ईसा से दो हजार साल पहले के धान मिले हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल में प्राचीन स्थलों की खुदाई से भारत की प्राचीन धान-प्रधान संस्कृति का पता चलता है। चीन, जापान, कोरिया और थाइलैंड आदि देशों में की गई खुदाईयों में भी पुराने धान मिले।

एक सौ करोड़ से ज्यादा किसान धान की खेती से दूसरों का पेट भरते हैं और अपना पेट पालते हैं। कोई एक सौ से ज्यादा देशों में धान की खेती की जाती है। लेकिन दुनिया का 90 प्रतिशत धान एशिया में ही उगाया और खाया जाता है। धान के पौधे को हर तरह की जलवायु पसंद है। नेपाल और भूटान में 10 हजार फुट से ऊंचे पहाड़ हों, या केरल में समुद्रतल से भी 10 फुट नीचे पाताल– धान दोनों जगह लहराते हैं।

अलग-अलग भाषाओं में उनके नामों से भी कौन पौधा कहां से कहां गया, इसका पता चल सकता है। धान के लिए लैटिन भाषा का 'ओराइजा' और अंग्रेजी का 'राइस' ये दोनों नाम तमिल भाषा के 'अरिसि' शब्द से उपजे हैं। अरब के सौदागर अपने साथ अरिसि ले गए तो वह अरबी भाषा में 'अल-रूज' या 'अरुज' बन गया। आगे जाकर स्पेनिश में 'अरोज' हो गया। ग्रीक में यही 'औरिजा' और लैटिन भाषा में 'ओराइजा' बन गया। इतालवी में 'राइसो', फ्रेंच में 'रिज', जर्मन में 'रीइस' रूसी में 'रीस' और अंग्रेजी भाषा में 'राइस' बन गया।

संस्कृत में रोपा धान को 'व्रीहि' कहते हैं। तेलुगु में इसी से वारी शब्द बना। अफ्रीका के पूर्वी तट पर बसे देश मैडागास्कर की 'मलागासी' भाषा में भी धान को 'वारी' या 'वारे' कहते हैं। ईरान की फारसी भाषा में 'व्रीहि' से ही ब्रिज बना।

कौटिल्य या चाणक्य ने अपने संस्कृत ग्रंथ अर्थशास्त्र में साठ दिन में पकने वाले षष्टिक धान का वर्णन किया है। इसे आजकल साठी कहते हैं।

बौद्ध संस्कृति में भी धान ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गौतम बुद्ध के पिता का नाम था– शुद्धोदन। यानी शुद्ध चावल। वट वृक्ष के नीचे तप में लीन गौतम बुद्ध ने एक वन-कन्या सुजाता के हाथ से खीर खाने के बाद बोध प्राप्त

किया और बुद्ध कहलाए। बौद्ध धर्म के साथ ही धान-संस्कृति और धान-कृषि भारत के पड़ोसी देशों– बर्मा, इंडोनेसिया, थाइलैंड, चीन, जापान और कोरिया तक फैली। धान भारत का ही दान है।

अपने लड़कपन के साथी सुदामा के लाए तंदुल (भुने चावल यानी मुरमुरे) पर भगवान श्रीकृष्ण ऐसे प्रसन्न हुए कि उस दो मुट्ठी तंदुल के बदले सुदामा को दो लोक मृत्यु लोक यानी पृथ्वी और स्वर्ग लोक दे डाले। अगर रुक्मणी ने उनका हाथ न पकड़ लिया होता तो तीसरा लोक– ब्रह्म लोक भी दे डालते।

चीन की राजधानी बीजिंग में शहर के दाएं तरफ एक मंदिर हुआ करता था। नाम था– स्वर्ग मंदिर। यहां पर सदियों तक कृषि-उत्सव होता रहा। उत्सव के दिन चीन के राजा किसानों की पीली पोशाक पहनकर आते थे। स्वर्ग मंदिर की बगल में ही एक खेत में गाजे-बाजे के साथ राजा हल चलाते। ईसा से कोई ढाई हजार साल पहले हुए इसी राजा शुन नुंग ने चीन के लोगों को पांच अनाजों की खेती करना सिखाया था। इनमें से एक था– ताओ यानी धान।

उस जमाने में देशों के बीच सड़कें नहीं थीं। फिर भी धान के दाने और उन्हें उगाने के तरीके दूर-दूर तक फैलते रहे। समुद्री सौदागर, हमलावर और प्रवासी यात्री जहां-जहां गए उनके साथ धान भी चलता गया। जिन्होंने कभी चावल देखा भी नहीं था, वे सोने-चांदी के बदले भी चावल लेते थे!

आज से कोई 15 हजार से 16 हजार साल पहले हिमालय की उत्तरी और दक्षिणी ढलानों में जंगली धान लहराते थे। 'इंडिका' किस्म के धान तापमान में हेर-फेर, यहां तक कि सूखा भी सह लेते थे। हिमालय से ये धान उत्तरी और पूर्वी भारत में और दक्षिण-पूर्व एशिया के उत्तरी भाग में और फिर दक्षिणी चीन में फैल गए।

जापान में धान पहले-पहल कोई 3 हजार साल पहले पहुंचा था। फिर जल्दी ही धान जापानी जीवन का अभिन्न अंग बन गया। वहां बचपन से ही धान को आदर देना सिखाया जाता है, मानो धान न हो, घर का कोई बड़ा-बूढ़ा हो। आज भी हर महीने के पहले, पंद्रहवें और अट्ठाइसवें दिन और सभी त्यौहारों पर जापानी घरों में लाल चावल बनाते हैं।

अफ्रीका में भी जंगली धानों से खेती वाला धान पनपा। इसकी खेती कोई साढ़े तीन हजार साल पहले शुरू हुई थी। जावा से एशियाई धान ईसा से चंद सदियों पहले अफ्रीका पहुंचा। उन दिनों की पालदार नौकाओं में हवाओं के साथ-साथ बहते हुए लोग गए और अपने साथ धान भी लेते गए। अफ्रीका के पूर्वी समुद्र तट पर मैडागास्कर में बस कर इन लोगों ने धान की खेती शुरू की। बाद में दक्षिण भारत के पूर्वी समुद्र तट से भी भारतीय समुद्री यात्री यहां पहुंचे। ये लोग ओमान होते हुए उसी समुद्री मार्ग से गए, जिससे मलाया और श्रीलंका

के लोग और अरब व्यापारी गए थे। इसी प्रकार धान के बीज मानसूनी हवाओं के साथ यात्रा करते रहे। किसी ने सही लिखा है कि अफ्रीका में एशियाई अनाजों के आगमन की कथा हवाओं के हाथों लिखी गई थी।

बाइबिल में चावल का उल्लेख नहीं है और न मिस्त्र के प्राचीन अभिलेखों में। नील नदी की घाटी में पहली बार धान की खेती 639 ईस्वी के आसपास शुरू हुई। सिकंदर जब भारत से लौटा तो (327-324 ई. पू.) अपने साथ धान लेता गया। उसके गुरु अरस्तू पहले यूरोपीय विद्वान थे, जिन्होंने अपनी एक किताब में 'ओरिज' कहकर धान का नाम लिया।

हमारे देश में तो कोई भी पूजा और अनुष्ठान बिना रोली-चावल के संपन्न ही नहीं होता। पहले माथे पर पानी से गीली रोली लगाते हैं और उसके बाद चावल के कुछ दाने। इसी को कहते हैं– तिलक करना।

यूरोप में धान कई रास्तों से गया। पहली से ग्यारहवीं सदी के बीच अरब सौदागरों के साथ भारत से धान ईरान और फिर मिस्त्र पहुंचा। वहां से धान ने स्पेन और सिसली में प्रवेश किया। स्पेन के इटली में प्रवेश किया। स्पेन के मूर लोग 8वीं सदी में उसे पुर्तगाल ले गए। वहां से धान ने बुल्गारिया, यूगोस्लाविया और रूमानिया की यात्रा की।

रूस को पहली बार धान देखने का मौका वहां के सम्राट पीटर प्रथम ने दिलाया। उन्होंने 1700 ई. के शुरू में ही ईरान से चावल मंगवाया था। रूस में कुछ धान पूर्वी एशिया से भी पहुंचा था। इसकी खेती कैस्पियन सागर के तटवर्ती प्रदेश में गई थी।

अमेरिका को पहली बार 17वीं सदी के शुरू में धान मिला। सन् 1685 में मैडागास्कर से एक जहाज चला जो रास्ते में खराब हो गया। मरम्मत के लिए जहाज को दक्षिण कैरोलाइना के बंदरगाह चार्ल्सटन में रुकना पड़ा। जाते समय जहाज का कप्तान वहां के लोगों को एक बोरा धान दे गया। इस तरह कैरोलाइना में धान की खेती शुरू हुई।

अमेरिकी राष्ट्रपति थॉमस जेफरसन इटली की 'पो' नदी की घाटी में उगने वाले 'लंबाडी' धान पर ऐसे फिदा हुए कि वापस लौटते समय उसे जेब में छुपा कर अमेरिका ले उड़े। यह सन् 1784 की बात है।

गेहूं से लदा एक जहाज सन् 1522 ईस्वी में मैक्सिको पहुंचा तो उसमें गेहूं के साथ धान भी मिला हुआ था। यह मिलावट ही मैक्सिको के लिए धान का वरदान लेकर आई थी।

हमारे देश में तो कोई भी पूजा और अनुष्ठान बिना रोली-चावल के संपन्न ही नहीं होता। पहले माथे पर पानी से गीली रोली लगाते हैं और उसके बाद

चावल के कुछ दाने। इसी को कहते हैं– तिलक करना। दूल्हे को विवाह-मंडप से उठने से पहले कन्याएं दूब और साठी धान का अक्षत लेकर बांया हाथ नीचे करके और दायां हाथ ऊपर करके ऊपर से नीचे तक स्पर्श करती हैं। विदा के समय स्त्रियां हाथ में अक्षत लेकर दूल्हा-दुल्हन पर उसकी वर्षा करती हैं। यह प्रथा सारी दुनिया में लगभग एक से रूप में मिलती है– सब धर्मों में। हर जगह नए जोड़े पर चावल बिखेर कर, उन्हें धान की तरह ही फलने-फूलने का आशीर्वाद दिया जाता है। इस तरह धान संपूर्ण विश्व में जीवन का अटूट अंग बन गया था।

धान उगाने वाले किसान शुरू से ही जानते थे कि इसको पानी प्रिय है। धान के खेतों तक पानी पहुंचाने के लिए उन्होंने तालाब और कुएं खोदे, नहरें बनाईं और तरह-तरह से सिंचाई के तरीके खोजे। कांपूचिया में अंगकोर की खुदाई में 60 किलोमीटर लंबी नहर मिली है। यह एकदम नाक की सीध में बनी है।

हमारे पड़ोसी देश बर्मा में 46 लाख हैक्टेयर में धान की खेती की जाती है। यहां के कारेन कबीले के लोग धान में आत्मा मानते हैं और उसे केला कहते हैं। इंडोनेशिया कोई 36 हजार द्वीपों का देश है। यहां बाली और सुमात्रा के किसान धान-माता को देवी-श्री और धान-नाना को देवी-नीनी कहते हैं। बीज बोने से पहले उनमें से सबसे बढ़िया बालियां चुनकर देवीश्री बनाई जाती हैं। इन्हें सिर पर रखकर नाचते-गाते खेत में या कोठार में सजा देते हैं।

जापान तो धान का पुजारी है। वहां हमेशा धान को बड़ा आदर दिया जाता है। जापान के एक प्रधानमंत्री (सन् 1987) माकोसोने-सान के नाम का मतलब है: श्री मध्य जड़। इनसे पहले के प्रधानमंत्री थे मुकुदा यानी 'श्री भरे खेत और तनाका हैं श्री बिचौले खेत। यहां खेत का मतलब धान के खेत से ही है। होंडा नाम हमने मोटर गाड़ियों, मोटर साईकिलों की कंपनी की तरह सुना है। लेकिन होंडा के माने हैं मुख्य धान खेत और टोयोटा का मतलब है भरपूर फसल वाला धान का खेत। जापान के एक प्रमुख हवाई अड्डे का नाम है नारिटा यानी फूलता फलता धान खेत।

धान की प्रधानता की जापान में बड़ी पुरानी परंपरा है। यहां देहातों में धान-देवता इनारी का मंदिर जरूर मिलेगा। एक और देवता जीजो हैं यहां। इनके पांव हमेशा कीचड़ में सने रहते हैं। कहते हैं कि एक बार जीजो का एक भक्त बीमार पड़ गया। भगवान अपने भक्तों का खूब ध्यान रखते थे। उसके खेत में जीजो देवता रात भर काम करते रहे। तभी से उनके पांव कीचड़ में सने रहने लगे। धान की खेती में बिजाई, रोपाई और काटने से कूटने और पकाने तक अधिकतर काम प्रायः महिलाएं ही पूरे करती हैं। पानी भरे खेत के कीचड़ में धंसे पैर और दिन भर झुके-झुके पौध रोपना। इस कमरतोड़ मेहनत के बीच भी उसके हंसते होठों पर कोई न कोई मीठी तान रहती है। इनकी पीड़ा को फिलिपीन्स के

एक गीत में कुछ इस तरह व्यक्त किया गया हैः "पौध रोपना मुश्किल काम, सुबह से शाम, नहीं विराम, कमर नहीं सीधी कर पाए, झुके-झुके ही पौध लगाएं।"

जापान तो धान का पुजारी है। वहां हमेशा धान को बड़ा आदर दिया जाता है। जापान के एक प्रधानमंत्री (सन् 1987) माकोसोने-सान के नाम का मतलब है। श्री मध्य जड़। इनसे पहले के प्रधानमंत्री थे मुकुदा 'श्री भरे खेत और तनाका हैं श्री बिचौले खेत। यहां खेत का मतलब धान के खेत से ही है। होंडा नाम हमने मोटर गाड़ियों, मोटर साईकिलों की कंपनी की तरह सुना है। लेकिन होंडा के माने हैं मुख्य धान खेत और टोयोटा का मतलब है भरपूर फसल वाला धान का खेत। जापान के एक प्रमुख हवाई अड्डे का नाम है नारिटा यानी फूलता फलता धान खेत।

वियतनाम के गांवों में यह माना जाता है कि धान की आत्मा घर की सबसे बूढ़ी मां में निवास करती है। वहां एक कहानी चलती है कि किसी जमाने में धान का दाना नारियल जितना गोल और बड़ा होता था। पकने पर मोटे गोल दाने फुटबाल की तरह लुढ़कते हुए खुद ही झोपड़ियों में आ जाते थे। उनके स्वागत में हर झोपड़ी सजाई जाती थी। एक बार कोई सुस्त वियतनामी किसान बिना सजाए अपनी झोपड़ी बंद करके सो गया। बस उसी दिन से धान महाराज ऐसे रूठे कि नारियल-सा बड़ा रूप त्यागकर बारीक चावल बन गए। खुद ही लुढ़कर आना भी छोड़ दिया। अब तो पूरी मेहनत करो। खेत जोतो, बोओ, रोपो, निराओ, पानी लगाओ, कीड़े मारो, पकने पर काटो, गहाई करो तो धान के दाने घर आएंगे।

जब खेत तैयार करके पानी भरा जाता है तो लगता है जैसे रूपहली चांदनी बिछी हो। यही खेत धान की रोपाई के बाद हरियाली के सागर में बदल जाते हैं। भीनी-भीनी हवा और रिमझिम बरसात में हरी कोपलें गर्दन मटका-मटका कर लहराने लगती हैं। सागर में बनती-मिटती लहरों की तरह हरे धान के खेत पर भी हवा वही समां बांध देती है। पकने पर धान के सुनहरे खेत नदी में नहाए लगते हैं। इन दिनों एक मीठी-सी धानी सुगंध हवा में तैरती रहती है।

बालियों में से अनाज के दाने अलग करने की क्रिया को गहाई कहते हैं। किसी जमाने में पूरे गांव का एक खलिहान होता था। अब तो हाल यह है कि घर में अगर चार भाई तो उनके खेत भी अलग, खलिहान भी अलग और चूल्हे भी अलग-अलग। नहीं तो पूरा गांव मिलकर जहां फसल पहले पकी, उस खेत

का धान पहले काटते। गोबर से लिपे कच्चे फर्श पर सुखाए हुए धान के पूले बिछा देते। इस पैर या लांक के बीच में खंभे से बंधी बल्ली को भैंसे या बैल की गर्दन में जुए की तरह डाल देते। कोल्हू के बैल की तरह घूमता हुआ जानवर कुचल-कुचल कर बालियों से दाने अलग करता। कहीं-कहीं जानवरों की जगह मजदूर ही जोत दिए जाते थे। धान की बालियों के तीखे तीकुर धान कुचलती महिलाओं के पांवों को भी छील देते हैं। पर अब कुछ जगह इस काम के लिए मशीनें भी आ गई हैं। हमारे देश में अकेले पंजाब में ढाई लाख से ज्यादा ऐसी मशीनें चल रही हैं। किसी जमाने में चांदनी रात में खलिहान में इकट्ठे होकर गांव के लड़के-लड़कियां आपस में हंसी मजाक करते हुए 'दांय' चलवाते थे। युवकों और गांव की युवतियों के वे गीत अब तो इन थ्रैशर-मशीनों की गुर्र-गुर्र में डूब गए हैं।

नए धान को कूटे जाने से आंगन में एक अद्‌भुत गंध फैलती है। पांव से चलाई जाने वाली ढेकी से भी धान कूटे जाते हैं। हाथ के कुटे या हथकुटे धान का चावल पौष्टिक होता है। उसमें प्रोटीन वाली परत बची रहती है। इसी को 'ब्राउन राइस' या लाल चावल कहते हैं।

सेला चावल बनाने की तकनीक बाकी देशों में हमारे देश से ही गई है। पहले धान को पानी में भिगोया जाता है। फिर निथारकर पानी फेंक देते हैं और धान को भाप देकर गर्म करते हैं। इसके बाद सुखा देते हैं। फिर इसको कूटकर कड़ा छिलका अलग कर देते हैं। इस तरह चावल की ऊपरी परत पक्की होकर मूसल या मिल की कुटाई के बाद भी चिपकी रहती है। इससे चावल में पीलापन लिए शीशे-सी चमक आ जाती है। बाकी चावलों से सेला चावल कड़ा भी होता है और पौष्टिक भी। दुनिया भर का पांचवा हिस्सा चावल सेला बनाकर बिकता है।

लेकिन सेला चावल बनाने के इस भारतीय तरीके का महत्व दुनिया ने काफी कीमत चुकाने के बाद समझा। सन् 1882 की बात है। एक जापानी जहाज नौ महीने की समुद्र यात्रा के बाद वापस आया तो उसके 276 कर्मचारियों में से 25 की मौत हो चुकी थी। बाकी भी बेदम से ही हो रहे थे। पता चला कि जहाजियों ने हर रोज तीन बार उबले चावल खाए थे। यह मिल का चावल था– पॉलिशवाला। यानी इसकी पौष्टिक परत उतरी हुई थी। इन्हीं दिनों जावा और मलेशिया में जहाजियों में यही बीमारी पाई गई। इसे बेरी-बेरी कहा गया। सिंहली भाषा में इसका मतलब होता है– बेहद कमजोर। इसमें हाथ-पांव की मांस-पेशियां इतनी ढीली हो जातीं कि चलना-फिरना दूभर हो जाता। मिल में चावल की सफेदी बढ़ाने के चक्कर में उसके विटामिन उतर गए। इन विटामिनों को 'विटामिन-बी' नाम दिया गया था। मिल का चावल खिलाने पर मुर्गियां तक

बीमार पड़ गई थीं पर फिर जब उन्हें सेला चावल खिलाया तो वे ठीक हो गईं। इस खोज से पहले विटामिन नाम की किसी चीज का पता नहीं था। डच वैज्ञानिक डॉ. आइखमैन ने इस बारे में सबसे पहले खोज की थी। मरने से साल भर पहले सन् 1929 में उन्हें इसी काम पर नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

चीनी दार्शनिक कंफ्यूशियस ने कहा था, 'खाने को पुराने चावल हों, पीने को पानी हो और बांह टिकाने को तकिया हो, तो फिर आनंद ही आनंद। पुराने चावलों में कुछ ऐसे रसायन बन जाते हैं, जो पकने पर सुगंध बिखेरते हैं। यह सुगंध एशियाई देशों में ही पसंद की जाती है।

सन् 1947 में फिलिपीन्स में बेरी-बेरी रोग के कारण कोई 24 हजार मौतें हुई थीं। तब वहां पौष्टिक चावल बांटा गया था। इस पौष्टिक चावल को बांटने के बाद 21 महीनों में ही बेरी-बेरी रोग गायब हो गया था।

अभी कुछ ही पहले तक हमारे घरों में चावल का मांड आमतौर पर फेंका नहीं जाता था। यह गाढ़ा पानी बड़ा ही पोषक होता है। किसान तो खाने के बाद बचे हुए भात को मिट्टी के बर्तन में पानी या घड़े में भिगो देते हैं। दूसरे दिन सुबह इसी का नाश्ता करके दिन भर धान के खेतों में कड़ी मेहनत करते हैं। तेलुगु में इसका नाम है– सल्दीअन्नम् यानी पानी वाला चावल। सिर्फ दक्षिण भारत में ही नहीं बंगाल और उड़ीसा, छत्तीसगढ़ में भी रात भर पानी में भीगे भात को बड़े चाव से खाया जाता है।

सन् 1882 की बात है। एक जापानी जहाज नौ महीने की समुद्र यात्रा के बाद वापस आया तो उसके 276 कर्मचारियों में से 25 की मौत हो चुकी थी। बाकी भी बेदम से ही हो रहे थे। पता चला कि जहाजियों ने हर रोज तीन बार उबले चावल खाए थे। यह मिल का चावल था– पॉलिशवाला। यानी इसकी पौष्टिक परत उतरी हुई थी।

दूसरे अनाज को पचने में दो से चार घंटे लगते हैं, पर चावल घंटे भर में ही पच जाता है। चावल इतना फूलता है कि एक कटोरी उबालो और तीन कटोरी खाओ। उबालते समय चावल के पौष्टिक तत्व बने रहें, इसके लिए पानी उतना ही होना चाहिए, जितना चावल सोख ले। फिर मांड फेंकने का प्रश्न ही नहीं उठता।

चीनी और जापानी भात या पुलाव खाना टेढ़ी खीर है। इसे लकड़ी की बनी चॉपस्टिक या डंडियों से खाना पड़ता है। जापानी चॉपस्टिक तो जरा लंबी और पतली पेंसिल जैसी होती है। चीनी चॉपस्टिक लंबाई में उसकी आधी होती है, पर मोटी ज्यादा होती है। जापानी चिपकना भात तो दोनों हाथों में पकड़ी गई चॉपस्टिक गड़ा कर उखाड़ा भी जा सकता है। पर चीनी खिलेंवां भात को चटनी

में लपेटकर ही चॉपस्टिकों पर चढ़ने के लिए राजी किया जा सकता है। मगर कभी-कभी चीनी चावलों में गुच्छी या खुंभिया भी होती हैं। ये इतने फिसलने वाले होते हैं कि चॉपस्टिक देखते ही भाग लेते हैं।

भात और मुंह के बीच का फासला तय करने में सबसे ज्यादा साथ देते हैं हाथ। और हमारे यहां तो भात खाने का मजा भी तभी आता है।

चीन के पास ताइवान देश में एक नगर है साइनान। इसके निकट में एनपिंग में एक पुराने किले के खंडहर हैं। यह किला कोई 300 साल पहले यहां हॉलैंड से आए लोगों ने बनाया था। यह किला चावल के मांड से बनाया गया था। बड़े-बड़े भगौनों में चावल उबालकर उसमें इतनी ही खांडसारी मिलाई जाती है। फिर शंख और सीपियों का चूरा मिलाते हैं। इस मसाले को सीमेंट की तरह इस्तेमाल करते हैं। सूखने पर यह बिलकुल पत्थर हो जाता है।

चीन में पुराने जमाने से चावल के आटे की लेई बनाते रहे हैं क्योंकि चावल के दानों में 90 प्रतिशत स्टार्च ही होता है। दाने के अलावा धान के पौधे के दूसरे हिस्सों के भी सैकड़ों उपयोग हैं। धान की भूसी भी बड़ी उपयोगी होती है।

दाने झाड़ने के बाद बचे धान के पौधे का मुख्य हिस्सा 'पुआल' है। यह 1-2 मीटर से लेकर 7 मीटर तक लंबा हो सकता है। बाढ़ के क्षेत्रों में बोए जाने वाले तैरते धानों के पुआल सचमुच इतने लंबे हो जाते हैं।

धान के पुआल और भूसी में प्रोटीन कम होता है। इसे पानी में भिगोकर चूना, अमोनिया, यूरिया वगैरह मिलाकर गाय-भैंस को खिलाया जाता है।

खुंभी उगाने के लिए धान का पुआल बड़े काम की चीज है। यह घुड़सालों में भी काम आती है। इस बिछावन को बाद में पशुओं के दाने या खाद की तरह इस्तेमाल कर सकते हैं।

मकान की चिनाई का गारा बनाने के लिए सीमेंट में बालू की जगह धान की भूसी और मिट्टी भी मिलाई जाती है। इनकी बड़ी-बड़ी ईंटें भी बनती हैं। इसमें धान की भूसी की राख आधे सीमेंट की जगह ले सकती है। ईंटें बनाने में 10 भाग मिट्टी में एक भाग धान की राख मिला सकते हैं। धान की भूसी में सिलिका नाम का एक तत्व होता है। इससे सिलीकन निकाला जाता है। सिलीकन को शोधकर चिप और सोलर सैल बनाए जाते हैं। ये कंप्यूटर और तमाम तरह की इलैक्ट्रॉनिक मशीनों में काम आने लगे हैं। कांच और तामचीनी उद्योग में तो धान की भूसी का उपयोग न जाने कब से होता ही चला आया है।

धान के पुआल और भूसी में खमीर उठाने से ईथेनोल या पॉवर अलकोहल बन जाता है। यह भविष्य में मोटरकार चलाने में पेट्रोल की जगह

काम आ सकता है। धान की भूसी के चूरे से फाईबर-बोर्ड बन रहे हैं। इमारती बोर्ड बनाने में लकड़ी के बुरादे या चिप की जगह धान की भूसी भी जमा सकते हैं। धान की भूसी से पानी को पीने के काबिल बना सकते हैं। झील या ताल के पानी को पहले नारियल के रेशे में से गुजारें और फिर धान की जली भूसी में से। ठोस कीचड़ वगैरह रेशे में रुक जाता है और बारीक बैक्टीरिया आदि भूसी की राख के पार नहीं जा पाते।

इतने काम की होने के बाद भी ज्यादातर पुआल और भूसी जलाऊ ईंधन के ही काम आते हैं। हमारे देश में 30 प्रतिशत भूसी बॉइलरों की भट्टियों में झोंकी जाती है। ज्यादातर किसान तो धान काटने के बाद बचे हुए पुआल को खेतों में और चावल निकालने के बाद भूसी को खलिहानों में जला देते हैं। वैसे यह चलन अभी कुछ ही समय पहले आया है।

धान की कोराई में 15 से 20 प्रतिशत तेल होता है। तलने लायक। भारत, जापान और चीन ब्रान के सबसे बड़े तेली हैं। तेल धान की ब्रान या कराई से निकाला जाता है। भूसी तो हुई धान का ऊपरी छिलका। इसके अंदर की बादामी परतें हैं– ब्रान या कोराई। इसी तरह दाने के अंदर भ्रूण का कोना कनी कहलाता है। ब्रान और कनी तेल में धनी हैं। इसमें प्रोटीन भी होता है और कार्बोहाइड्रेट भी। बिटामिन-बी के तो ये भंडार हैं।

हमारे पुराणों के अनुसार जब प्रलय हुआ तो धरती के सभी प्राणी और सारी वनस्पतियां डूब गईं। उस समय बचे रहे थे मनु। उन्होंने अपनी नौका में बस दो ही अनाज रखे थे– धान और जौ। इन दोनों के दाने कड़े खोल में बंद रहते हैं और लंबे सफर में उन्हें खराब होने से बचाते हैं।

हमारे गांवों में अगहनी फसल आ जाने पर धान की बालियों के बंदनवार द्वार पर टांग दिए जाते हैं। चिड़ियां आएं, दाने चुगें और चहचहाहट से आंगन भर दें। धन्य-धन्य में धान कितना सुख देता है, यह तो धनवान ही जाने लेकिन धान्य तो गृहस्थ के घर को आनंद से, चहचहाहट से भरता ही चला आया है।

लेखक भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के वरिष्ठ वैज्ञानिकों में गिने जाते थे। इस वर्ष अच्छे मानसून के कारण देश में धान का बुवाई क्षेत्र भी बढ़ा है और फसल भी सर्वाधिक होने का अनुमान है। ऐसे विशेष अवसर पर धान की सुगंध बिखेरता उनका यह लेख प्रस्तुत करते हुए हम उन्हें श्रद्धा सुमन भी अर्पित करते हैं।

*

पुराना चावल

प्रलय का शिलालेख

सन् 1977 की जुलाई का तीसरा हफ्ता। उत्तरप्रदेश के चमोली जिले की बिरही घाटी में आज एक अजीब-सी खामोशी है। यों तीन दिन से लगातार पानी बरस रहा है और इस कारण अलकनंदा की सहायक नदी बिरही का जल स्तर बढ़ता जा रहा है। उफनती पहाड़ी नदी की तेज आवाज पूरी घाटी में टकरा कर गूंज रही है। फिर भी चमोली-बदरीनाथ मोटर सड़क से बाईं तरफ लगभग 22 किलोमीटर दूर 6,500 फुट की ऊंचाई पर बनी इस घाटी के 13 गांवों के लोगों को आज सब कुछ शांत-सा लग रहा है।

आज से सिर्फ सात बरस पहले ये लोग प्रलय की गर्जना सुन चुके थे। उसका तांडव देख चुके थे। इनके घर, खेत व ढोर उस प्रलय में बह चुके थे। उस प्रलय की तुलना में आज बिरही नदी का शोर इन्हें डरा नहीं रहा था। कोई एक मील चौड़ी और पांच मील लंबी इस घाटी में चारों तरफ बड़ी-बड़ी शिलाएं, पत्थर, रेत और मलबा भरा हुआ है, इस सबके बीच से किसी तरह रास्ता बना कर बह रही बिरही नदी सचमुच बड़ी गहरी लगती है।

लेकिन सन् 1970 की जुलाई का तीसरा हफ्ता ऐसा नहीं था। तब यहां यह घाटी नहीं थी, इसी जगह पर पांच मील लंबा एक मील चौड़ा और कोई

तीन सौ फुट गहरा एक विशाल ताल था– गौना ताल। ताल के एक कोने पर गौना गांव था और दूसरे कोने पर दुरमी गांव। इसलिए कुछ लोग इसे दुरमी ताल भी कहते थे। पर बाहर से आने वाले पर्यटकों के लिए यह बिरही ताल था, क्योंकि चमोली-बदरीनाथ मोटर मार्ग पर बने बिरही गांव से ही इस ताल तक आने का पैदल रास्ता शुरू होता था।

ताल के ऊपरी हिस्से में त्रिशूल पर्वत की शाखा कुंवारी पर्वत से निकलने वाली बिरही समेत अन्य छोटी-बड़ी चार नदियों के पानी से ताल में पानी भरता रहता था। ताल के मुंह से निकलने वाली अतिरिक्त पानी की धारा फिर से बिरही नदी कहलाती थी। यहां से लगभग 18 किलोमीटर के बाद यह अलकनंदा में मिल जाती थी। सन् 1970 की जुलाई के तीसरे हफ्ते ने बरसों पुराने इस सारे दृश्य को एक ही क्षण में बदल कर रख दिया।

ये लोग प्रलय की गर्जना सुन चुके थे। उसका तांडव देख चुके थे। इनके घर, खेत व ढोर उस प्रलय में बह चुके थे। उस प्रलय की तुलना में आज बिरही नदी का शोर इन्हें डरा नहीं रहा था। कोई एक मील चौड़ी और पांच मील लंबी इस घाटी में चारों तरफ बड़ी-बड़ी शिलाएं, पत्थर, रेत और मलबा भरा हुआ है, इस सबके बीच से किसी तरह रास्ता बना कर बह रही बिरही नदी सचमुच बड़ी गहरी लगती है।

दुरमी गांव के प्रधानजी उस दिन को याद करते हैं: "तीन दिन से लगातार पानी बरस रहा था। पानी तो इन दिनों हमेशा गिरता है, पर उस दिन की हवा कुछ और थी। ताल के पिछले हिस्से में आने वाले पानी के साथ बड़े-बड़े पेड़ बह-बह कर आने लगे थे। ताल के पानी में ऐसी बड़ी-बड़ी भंवरें उठ रही थीं कि ये पेड़ उनमें तिनके की तरह खिंच जाते थे, फिर कुछ देरी बाद बाहर फिंका जाते और ताल के चारों ओर चक्कर काटने लगे थे। ताल में उठ रही लहरें उन्हें यहां से वहां, वहां से यहां फेंक रही थीं। देखते-देखते सारा ताल पेड़ों से ढंक गया। अंधेरा हो चुका था। हम लोग अपने-अपने घरों में बंद हो गए। घबरा रहे थे कि आज कुछ अनहोनी होकर रहेगी। खबर भी करते तो किसे करते? जिला प्रशासन हमसे 22 किलोमीटर दूर था।" घने अंधेरे ने इन गांव वालों को उस अनहोनी का चश्मदीद गवाह न बनने दिया। पर इनके कान तो सब सुन रहे थे।

प्रधानजी बताते हैं– "रात भर भयानक आवाजें आती रहीं। फिर एक जोरदार गड़गड़ाहट हुई और फिर सब कुछ ठंडा पड़ गया।" ताल के किनारे की ऊंची चोटियों पर बसने वाले इन लोगों ने सुबह के उजाले में पाया कि गौना ताल फूट चुका है, बड़ी-बड़ी चट्टानों और हजारों पेड़ों का मलबा और रेत ही रेत पड़ी थी चारों ओर। ताल का बचा-खुचा पानी इधर-उधर से रास्ता बनाकर बरसों पहले मिट चुकी बिरही नदी को फिर से जनम दे रहा था।

ताल की पिछली तरफ से आने वाली नदियों के ऊपरी हिस्सों में जगह-जगह भूस्खलन हुआ था। उसके साथ सैंकड़ों पेड़ उखड़-उखड़ कर नीचे चले आए थे। इस सारे मलबे को, टूट कर आने वाली बड़ी-बड़ी चट्टानों को गौना ताल अपनी 300 फुट की गहराई में समाता गया, सतह ऊंची होती गई, और फिर लगातार ऊपर उठ रहे पानी ने ताल के मुंह पर रखी एक विशाल चट्टान को उखाड़ फेंका और देखते ही देखते सारा ताल खाली हो गया। घटना स्थल से तीन सौ किलोमीटर दूर बसे नीचे हरिद्वार तक इसका असर पड़ा था।

तीन दिन से लगातार पानी बरस रहा था। पानी तो इन दिनों हमेशा गिरता है, पर उस दिन की हवा कुछ और थी। ताल के पिछले हिस्से में आने वाले पानी के साथ बड़े-बड़े पेड़ बह-बह कर आने लगे थे। ताल के पानी में ऐसी बड़ी-बड़ी भंवरें उठ रही थीं कि ये पेड़ उनमें तिनके की तरह खिंच जाते थे, फिर कुछ देरी बाद बाहर फिंका जाते और ताल के चारों ओर चक्कर काटने लगते थे। ताल में उठ रही लहरें उन्हें यहां से वहां, वहां से यहां फेंक रही थीं।

गौना ताल ने इस बहुत बड़े प्रलय को अपनी गहराई में समाकर उसका छोटा सा अंश ही बाहर फेंका था। उसने सन् 1970 में अपने आप को मिटा कर उत्तराखंड, तराई और दूर मैदान तक एक बड़े हिस्से को बचा लिया था। वह सारा मलबा उसके विशाल विस्तार और गहराई में न समाया होता तो सन् 70 की बाढ़ की तबाही के आंकड़े कुछ और ही होते। लगता है गौना ताल का जन्म बीसवीं सदी के सभ्य लोगों की मूर्खताओं के कारण आने वाले विनाश को थाम लेने के लिए हुआ था।

ठीक आज की तरह ही सन् 1893 तक यहां गौना ताल नहीं था। उन दिनों भी यहां एक विशाल घाटी ही थी। सन् 1893 में हुई तेज बरसात और उसके साथ आए भूस्खलन से घाटी के संकरे मुंह पर ऊपर से एक विशाल

चट्टान गिर कर अड़ गई थी। घाटी की पिछली तरफ से आने वाली बिरही और उसकी सहायक नदियों का पानी मुंह पर उस अड़ी चट्टान के कारण धीरे-धीरे गहरी घाटी में फैलने लगा। अंग्रेजों का जमाना था, प्रशासनिक क्षमता में वे सन् 1970 के प्रशासन से ज्यादा कुशल साबित हुए। तब के प्रशासन ने उस समय जन्म ले रहे गौना ताल के ऊपर बसे एक गांव में बाकायदा तारघर स्थापित किया। तारघर का तार बाबू समय-समय पर इस ताल के बढ़ते जलस्तर की ठीक-ठीक जानकारी नीचे बैठे ऊंचे अधिकारियों को देता रहता था।

"रात भर भयानक आवाजें आती रहीं। फिर एक जोरदार गड़गड़ाहट हुई और फिर सब कुछ ठंडा पड़ गया।" ताल के किनारे की ऊंची चोटियों पर बसने वाले इन लोगों ने सुबह के उजाले में पाया कि गौना ताल फूट चुका है। बड़ी-बड़ी चट्टानों और हजारों पेड़ों का मलबा, और रेत ही रेत पड़ी थी चारों ओर। ताल का बचा-खुचा पानी इधर-उधर से रास्ता बनाकर बरसों पहले मिट चुकी बिरही नदी को फिर से जनम दे रहा था।

एक साल तक ये नदियां उस ताल को भरती रहीं। जलस्तर लगभग तीन सौ फुट ऊंचा उठ गया। तारघर ने खतरे का तार नीचे भेज दिया। बिरही और अलकनंदा के किनारे नीचे दूर तक खतरे की घंटी बज गई। ताल सन् 1894 में फूट पड़ा, पर सन् 1970 की तरह एकाएक नहीं। किनारे के सभी गांव खाली करवा लिए गए थे। प्रलय को झेलने की पूरी तैयारी थी। फूटने के बाद तीन सौ फुट का जल स्तर 30 फुट मात्र रह गया। ताल सिर्फ फूटा था, पर मिटा नहीं था। गोरे साहबों का संपर्क न सिर्फ ताल से बल्कि उसके आसपास की चोटियों पर बसे गांवों से भी बना रहा। उन दिनों एक अंग्रेज अधिकारी महीने में एक बार इस दुर्गम इलाके में आकर वहां की समस्याओं और झगड़ों को निपटाने के लिए एक कोर्ट भी लगाता था। टूटने के बाद भी बचा-खुचा ताल अब भी विशाल ही था। ताल में नावें चलती थीं।

आजादी के बाद भी नावें चलती रहीं। सन् 1960 के बाद ताल से 22 किलोमीटर की दूरी पर गुजरने वाली हरिद्वार बदरीनाथ मोटर-सड़क बन जाने से पर्यटकों की संख्या भी बढ़ गई। अब ताल में नाव की जगह मोटर बोट ने ले ली। ताल से प्रशासन का संपर्क सिर्फ पर्यटन के विकास के नाम पर

कायम रहा। वह ताल के इर्द-गिर्द बसे इन 13 गांवों को धीरे-धीरे भूलता गया। उसे बस इतनी ही बात याद रही कि ताल भरने वाली नदियों के आगौर, पनढाल में घने जंगल लगे हैं। इन्हें वर्ष 1960 से 1970 के बीच बुरी तरह से काटा गया था।

मुख्य मोटर सड़क से ताल तक पहुंचने के लिए, गांवों तक नहीं, 22 किलोमीटर लंबी एक सड़क भी बनाई जाने लगी। सड़क अभी 12 किलोमीटर ही बन पाई थी कि सन् 1970 की जुलाई का वह तीसरा हफ्ता आ गया। ताल फूट जाने के बाद सड़क पूरी करने की जरूरत ही नहीं समझी गई। सन् 1894 में गौना ताल के फटने की चेतावनी तार से भेजी थी, पर सन् 1970 में ताल फूटने के बाद ही खबर लग पाई थी।

बहरहाल अब यहां गौना ताल नहीं है। पर उसमें पड़ी बड़ी-बड़ी चट्टानों पर पर्यावरण का एक स्थायी लेकिन अदृश्य शिलालेख जरूर खुदा हुआ है। इस क्षेत्र में चारों तरफ बिखरी ये चट्टानें हमें बताना चाहती हैं कि हिमालय में, खासकर नदियों के पनढालों में खड़े जंगलों का हमारे पर्यावरण पर क्या असर पड़ता है। ऐसे हिमालय में, देवभूमि में हम कितना धर्म करें, कितना अधर्म होने दें, कितना विकास करें, कितनी बिजली बनाएं– यह सब इन बड़ी चट्टानों, शिलाओं पर बहुत स्पष्ट ढंग से लिखा हुआ है, खुदा हुआ है।

अब यहां गौनाताल नहीं है। पर उसमें पड़ी बड़ी-बड़ी चट्टानों पर पर्यावरण का एक स्थायी लेकिन अदृश्य शिलालेख जरूर खुदा हुआ है। इस क्षेत्र में चारों तरफ बिखरी ये चट्टानें हमें बताना चाहती हैं कि हिमालय में, खासकर नदियों के पनढालों में खड़े जंगलों का हमारे पर्यावरण पर क्या असर पड़ता है। ऐसे हिमालय में, देवभूमि में हम कितना धर्म करें, कितना अधर्म होने दें, कितना विकास करें, कितनी बिजली बनाएं– यह सब इन बड़ी चट्टानों, शिलाओं पर बहुत स्पष्ट ढंग से लिखा हुआ है, खुदा हुआ है।

क्या हम इस शिलालेख को पढ़ने के लिए तैयार हैं?

अनुपम मिश्र
सन् 1977 में लिखा गया लेख।

*

पोथी पढ़ि पढ़ि

जब हम चौदह तारीख को मिलेंगे

विचित्र भाई

भारतीय खादी ग्रामोद्योग संघ के अध्यक्ष विचित्र भाई सचमुच विचित्र ही थे। खादी का जी भरके काम किया। उस काम में लगातार आती जा रही गिरावट को बड़ी बारीकी से देखा-परखा और उसके लिए जो जिम्मेदार थे– चाहे वे अपने हों या कि पराए– बिना लाग लपेट सबको आड़े हाथों लिया। जब संकट बहुत बढ़ गया तो प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई से मिलने की तारीख तय हुई। तारीख आने से कोई दो हफ्ते पहले उन्होंने मोरारजी भाई को एक सख्त-सा लंबा पत्र भी लिखा। इसमें उन्होंने मोरारजी भाई को खादी का संकट ठीक से समझाया और कहा कि हमारा यह मिलना केवल एक रस्म होकर न रह जाए।

प्रिय श्री मोरारजी भाई,

उस दिन आपसे मिलकर आंतरिक आनंद हुआ। आपके बीच-बीच में अनेक वक्तव्य पढ़ने को मिलते हैं। उनसे भी हार्दिक आनंद होता है। आपने हम लोगों को समय देने का आश्वासन दिया था– अब सोम भाई से मालूम हुआ कि आपने 14 मई उसके लिए निश्चित कर दी है। सोम भाई की इच्छा है कि मैं आपको इसके लिए बाकायदा निमंत्रण दूं। परिणाम स्वरूप अध्यक्ष के नाते 14 तारीख को हम लोगों के बीच उपस्थित होने के लिए विनम्र प्रार्थना कर रहा हूं। समय शायद 10 बजे रखा है। पर वह आपकी सुविधानुसार कुछ इधर-उधर हो सकता है।

सोम भाई शायद चाहेंगे मैं इसके लिए आपको धन्यवाद भी दूं। शिष्टाचार ऐसा है। पर धन्यवाद की बात मेरे अंदर से नहीं आती है। उसके स्थान पर आनंद जरूर है। धन्यवाद में परायापन तो है ही। पर जिस काम के लिए हम इकट्ठा हो रहे हैं, उसका महत्व भी कम होता है। इस देश के गरीबों और दीन-दुखियों के लिए कुछ भी कर सकना तो परम गौरव की बात है। उसे करके हमारा जीवन धन्य होता है तो इस पुण्य काम में सहधर्मी होना परम सौभाग्य की बात है। धन्यवाद कौन किसको दे?

एक बार जवाहरलाल जी से ऐसे ही प्रसंग में कहना पड़ा था कि हम आपसे करोड़ों रुपया लेंगे पर आप यह न समझिएगा कि आप हमारे ऊपर अहसान करेंगे। न हम आप पर कोई अहसान करेंगे। हमारा सबका कर्तव्य है– समाज ने जिन्हें सब तरह से वंचित रखा है, उनके साथ हम न्याय करें। पर अगर अहसान की बात आती ही है तो हम सरकार पर अहसान करेंगे क्योंकि सरकार ने डिरेक्टिव प्रिंसीपल्स में यह वादा किया था कि वह सबको आजीविका देगी– सर ढकने को छाया देगी आदि– और हम आपको एक बहुत सस्ती एक्सपर्ट और ईमानदार सेवा देंगे। हमने यह भी कहा था कि आप हमारी यह बात समझ सकेंगे। पर आपके अधीनस्थ कर्मचारी शायद इसे समझ भी न सकें।

जवाहरलालजी से ऐसे ही प्रसंग में कहना पड़ा था कि हम आपसे करोड़ों रुपया लेंगे पर आप यह न समझिएगा कि आप हमारे ऊपर अहसान करेंगे। न हम आप पर कोई अहसान करेंगे। हमारा सबका कर्तव्य है– समाज ने जिन्हें सब तरह से वंचित रखा है, उनके साथ हम न्याय करें।

दुर्भाग्य से जवाहरलाल जी एक बहुत बड़े नेता और विचारक होते हुए भी गांधीजी और खादी ग्रामोद्योग की बात पूर्णतः नहीं समझ सके थे। अपने जीवन के अंत काल में उन्हें अपनी असफलता का आभास होने लगा था। और वे शायद एक असफलता की भावना ही अपने साथ भी लेकर गए। आपको शायद लगे मैं व्यर्थ आपका समय नष्ट कर रहा हूं। पर ऐसा नहीं। मुझे लगता है 10 साल में गरीबी, बेकारी हटाने का जो संकल्प आप लोगों ने लिया है, आपके अनेक प्रतिनिधि इसे समय-समय पर दुहराते हैं, उस दृष्टि से अगर हम देखें तो हम जिस रफ्तार से चल रहे हैं, वह अत्यंत धीमी है।

यह इतिहास की घटना थी जब आप लोगों ने बापू की समाधि पर अपने संकल्पों को दुहराया। जयप्रकाश बाबू, दादा कृपालानी आदि का उस समय

उपस्थित रहना और इस अवसर पर भागीदार होना वास्तव में ऐतिहासिक ही नहीं, एक अहिंसक क्रांति का द्योतक है। देश जिस भय और निराशा के दुखद काल में से गुजर रहा था, उसका स्वर्णिम अंत यह था। देश की आशाएं बहुत ऊंची उठ गई हैं और आप लोगों से वह पूरी होनी हैं, ऐसा उसका विश्वास है।

आज हमारे खादी कार्यकर्ता माना कि सरकारी पैमानों से कम पाते हैं। कमीशन की तनख्वाहें व अन्य पारितोषिक दूने हैं। फिर भी आज का औसत कार्यकर्ता भी पहले अपना हित देखता है। जिन गरीबों और असहायों की सेवा के लिए वह है, उनकी चिंता उसे कम है। या अगर यह भी मैं कह दूं कि उनकी चिंता उसकी नींद को कभी हराम करती ही नहीं तो भी गलत न होगा। कार्यकर्ताओं की मीटिगों में अपनी मंहगाई, अपनी परेशानी की चर्चा तो खूब होती है पर कत्तिन, बुनकरों और कारीगरों को भी कष्ट है, उनकी भी महंगाई बढ़नी चाहिए– इसकी चर्चा उनकी ओर से कभी नहीं होती।

देश की आशाएं आप लोगों पर लगी हैं। इस संदर्भ में आप देखेंगे तो खादी कमीशन की स्थापना और उसे प्रचुर मात्रा में धन भी देना उन आशाओं की आंशिक पूर्ति भी नहीं कर सकेगा। दुर्भाग्य से आज तो हम वह भी दावे से नहीं कह सकते जो जवाहरलाल जी से हमने कहा था कि हम एक सस्ती ईमानदार एक्सपर्ट सेवा आपको उपलब्ध कराते हैं। आज हमारे खादी कार्यकर्ता माना कि सरकारी पैमानों से कम पाते हैं। कमीशन की तनख्वाहें व अन्य पारितोषिक दूने हैं। फिर भी आज का औसत कार्यकर्ता भी पहले अपना हित देखता है। जिन गरीबों और असहायों की सेवा के लिए वह है, उनकी चिंता उसे कम है। या अगर यह भी मैं कह दूं कि उनकी चिंता उसकी नींद को कभी हराम करती ही नहीं तो भी गलत न होगा। कार्यकर्ताओं की मीटिगों में अपनी मंहगाई, अपनी परेशानी की चर्चा तो खूब होती है पर कत्तिन, बुनकरों और कारीगरों को भी कष्ट है, उनकी भी महंगाई बढ़नी चाहिए– इसकी चर्चा उनकी ओर से कभी नहीं होती।

और सबसे आश्चर्य की बात है कि सरकार भी जो करोड़ों रुपया देकर इस उद्योग को पुनर्जीवित करने की सोचती है, उसके श्रम मंत्री भी कभी इन सच्चे उत्पादकों और श्रमिकों की चिंता नहीं करते। वे भी अपनी टैक्स्ट बुकस् में जो उन्होंने पढ़ा है, उसे दुहराते रहते हैं। इन गरीबों को छुट्टी मिले, आठ घंटे से ज्यादा काम न करना पड़े, भविष्य निधि भी इन्हें मिले, ग्रेच्यूटी भी

मिले– बोनस भी मिले, इसकी चर्चा कभी नहीं होती। किसी के विचार में भी यह नहीं आता है।

पर हां, जिन्हें सबसे अधिक मिलता है, साल भर में 100 दिन से ज्यादा की छुट्टी मिलती है, जो 8 घंटे भी औसत काम नहीं करते, उनको और भी मिले, उनके लिए मिनिमम वैजेज एक्ट भी है। पर यह सब आए कहां से– यह कोई सोचता भी नहीं। खादी बिचारी खुद सरकारी अनुदानों पर चल रही है।

जिन्हें सबसे अधिक मिलता है, साल भर में 100 दिन से ज्यादा की छुट्टी मिलती है, जो 8 घंटे भी औसत काम नहीं करते, उनको और भी मिले, उनके लिए मिनिमम वैजेज एक्ट भी है। पर यह सब आए कहां से– यह कोई सोचता भी नहीं। खादी बिचारी खुद सरकारी अनुदानों पर चल रही है।

तो अगर इसी एजेंसी के मार्फत आपकी शपथ जो जनता के सामने आपने ली है, वह पूरी होनी है तो 100/200 साल में भी वह हो सकेगी, इसमें शंका है। इस प्रश्न की अवहेलना करके कि यह हल हो जाएगा– ऐसा वे सोच सकते हैं। जो वे कहते हैं लेकिन उसे समझते नहीं। आप उनमें से नहीं हैं, इसमें मुझे शक नहीं, जयप्रकाश बाबू उनमें से नहीं, दादा कृपालानी उनमें से नहीं। चौधरी चरण सिंह भी आज इसकी गंभीरता को समझते हैं। मुझे आशा है आप के कई दूसरे साथी भी ऐसे हैं, जो अपनी सत्यनिष्ठा और सद्भावना के लिए श्रद्धा के पात्र हैं।

यह लंबा पत्र लिखने के पीछे मेरी यही सफाई है। आप लोगों की बदनामी हो– गरीबी हटाओ का नारा जैसे मजाक बनकर रह गया, वैसे ही पुनः न हो। यह तो है ही, पर वे करोड़ों लोग जो गरीबी की रेखा से नीचे हैं, उनका कभी तो उद्धार हो। और इस काम के लिए आज से ज्यादा उपयुक्त समय और कब हो सकता है? 14 तारीख को हम सब सोच लेंगे, तय कर लेंगे– यह आशा मुझे नहीं। वास्तविक सोचना-चिंतन तो कम से कम व्यक्तियों को लेकर होता है। उस पर मुहर लगाने का काम बड़े जलसों में हो सकता है। कुछ नए मुद्दे भी सामने आ सकते हैं। वे अपनाए जा सकते हैं। पर इस बड़ी मीटिंग की मार्फत प्रश्न हल करने की आशा दुराशा मात्र है।

अधिकांश खादी संस्थाओं का अनुभव 50,52 साल का तो है ही। कुछ सन् 20 से ही क्षेत्र में आ गई थीं। इस लंबे काल में वह स्वर्ण काल भी शामिल है जब स्वयं बापू चर्खा संघ की अध्यक्षता करते थे और छोटी से छोटी तफसील में जाते थे। तब से आज तक प्रायः वही ढर्रा चला आ रहा है। कोई मौलिक

परिवर्तन नहीं हुआ है। सिर्फ अंतर है तो इतना कि गांधीजी के समय में खादी सिर्फ त्याग और सेवा की प्रतीक थी– आजादी के बाद वह शान-शौकत और सबसिडी और रिबेट पर जिंदा रहने वाली चीज हो गई है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि हम सिर्फ भावना पर खादी को चलाना चाहते हैं या एक व्यापार की वस्तु की तरह जो बाजार में रिबेट, सबसिडी के बल पर प्रतियोगिता के सामने खड़ी हो सके। तीसरा तरीका, इन दोनों दृष्टियों को मिला कर भी हो सकता है। भावना पर जहां जोर दिया जाए, वहां वस्तु को सस्ता करने की भी कोशिश की जाए और प्रतियोगिता का कुप्रभाव न पड़ सके, यह भी देखा जाए।

हम सिर्फ भावना पर खादी को चलाना चाहते हैं या एक व्यापार की वस्तु की तरह जो बाजार में रिबेट, सबसिडी के बल पर प्रतियोगिता के सामने खड़ी हो सके। तीसरा तरीका इन दोनों दृष्टियों को मिला कर भी हो सकता है। भावना पर जहां जोर दिया जाए, वहां वस्तु को सस्ता करने की भी कोशिश की जाए और प्रतियोगिता का कुप्रभाव न पड़ सके, यह भी देखा जाए।

भावना का प्रचार सिर्फ खादी कार्यकर्ता कर देगा, यह भूल नहीं होनी चाहिए। हरेक मंत्री– हरेक पार्टी जो खादी में यकीन करती है, कोई मौका न चूके। खादी के महत्व की चर्चा करे और देश के उत्थान में उसका महत्व बताए।

रिबेट, सबसिडी हम कहां तक दें, कितनी दें ताकि खादी का उत्पादन दिन रात बढ़ता चला जाए और उसकी बिक्री की समस्या भी न रहे। खादी कार्यकर्ता कहां तक वफादारी, ईमानदारी से यह जिम्मेदारी उठा सकेंगे यह भी देखना पड़ेगा। पिछला इतिहास बहुत प्रिय नहीं है। करोड़ों नहीं तो लाखों रुपया गलत तरीके से अनुदान के रूप में लिया गया। यह आगे न हो या होगा– यह भी छोटा प्रश्न नहीं।

इसके अलावा घर-घर पर खादी पहुंच जाए। मिल का बना वस्त्र सब बाहर देशों में चला जाए, तब भी 6,7 प्रतिशत लोगों से अधिक को पूर्ण रोजगार नहीं मिलेगा।

खादी तो सूर्य है, जिसके चारों ओर हजारों गृह उद्योग घूमेंगे– यह भी हो जाए तब भी सरकार 20,25 प्रतिशत को काम देने में सफल होगी। यह सब काम चार-पांच आदमी खादी कमीशन में बैठकर हल कर लेंगे– चाहे जितने भी योग्य वे क्यों न हों– यह आशा आप लोग करेंगे तो प्रश्नों की उपेक्षा करना होगा।

इसके लिए तो आप सबको– आपकी सारी सरकार को, आपके योजना

आयोग को और तब आपके मार्फत उन सब लोगों को जो इसमें योगदान दे सकते हैं– नया सोचना और नया कुछ करना पड़ेगा।

एक बार जवाहरलाल जी को लिखा कि खादी और उसके जो अभिप्राय और फलितार्थ हैं, उनको समझने के लिए समय की जरूरत है। आपके पास समय नहीं। हम जो आपको कहें कि यह करो, वह करो– यह अनुचित होगा। आप स्वयं उसे समझने का समय निकालें। पर आपके पास तो समय नहीं है। और बिना समझे आप कुछ न कर सकेंगे। यही दुखद किस्सा अब फिर से न दुहराया जाए।

गांधीजी की दृष्टि में खादी सिर्फ वस्त्र ही नहीं थी। खादी उनके सारे समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र यहां तक कि राजनीति का भी प्रतीक थी। ट्रस्टीशिप की उनकी नीति इसमें निहित थी। प्रेम, सादगी, सहयोग की यह जीवंत मूर्ति थी। जिसकी हम सेवा करें, उसमें कितना अधिक हम अपने लिए लें, इसके लिए कुछ मर्यादाएं बांधी गई थीं। पैसा हमारा मापदंड न हो– मानव का श्रम, उसकी आवश्यकता हमारी योजना का आधार हो।

कल को मान लो एक चमत्कार हो जाए और गरीबी हट जाए। कितना परिवर्तन हमें अपने जीवन में लाना होगा। अगर हम सचमुच गरीबी हटाना चाहते हैं तो क्या क्रमशः उसे आज ही से लाने की दिशा में अग्रसर नहीं होना चाहिए? खादी उसी का रास्ता दिखाती है। यहां महंगी, सस्ती का प्रश्न उठता ही नहीं अगर गरीबी हटाने को कटिबद्ध हैं और सच्चाई से उस पर अमल करना चाहते हैं तो हमें आज के प्रायः सब मूल्य बदलने होंगे।

हम लोग गरीबी हटाने की बात सदा कहते हैं। पर क्या हम सब उसका अभिप्राय, फलितार्थ समझते हैं? और क्या उसके अनुकूल हम अपना जीवन ढालने को तैयार हैं? कल को मान लो एक चमत्कार हो जाए और गरीबी हट जाए। कितना परिवर्तन हमें अपने जीवन में लाना होगा। अगर हम सचमुच गरीबी हटाना चाहते हैं तो क्या क्रमशः उसे आज ही से लाने की दिशा में अग्रसर नहीं होना चाहिए? खादी उसी का रास्ता दिखाती है। यहां महंगी, सस्ती का प्रश्न उठता ही नहीं। अगर गरीबी हटाने को कटिबद्ध हैं और सच्चाई से उस पर अमल करना चाहते हैं तो हमें आज के प्रायः सब मूल्य बदलने होंगे।

पत्र लंबा हो गया। सूत्रों में लिख सकने की क्षमता मेरे में नहीं। पर हमारा मिलना एक रस्म मात्र ही होकर न रह जाए। इससे हम लोग पहले कुछ सोचकर आएं इसलिए यह लंबा पत्र लिखने की धृष्टता कर रहा हूं।

अंत में सिर्फ एक बात कह कर समाप्त करूंगा। आपने एक से अधिक बार कहा है कि चर्खा संघ जैसी कोई चीज हमें खड़ी करनी चाहिए। पहले चर्खा संघ था। उसे सर्व सेवा संघ में विलीन कर दिया गया था। अब सर्व सेवा संघ स्वयं अपने को समाप्त करने पर तुला है। वह बहुत कुछ विनोबा की कृति थी। विनोबा संगठन मात्र में हिंसा देखते हैं। ठीक है उनके संन्यास के साथ सर्व सेवा संघ का भी विलय हो जाए तो अनुचित न होगा। पर जैसे गो सेवा को पुनः जीवित किया गया वैसे ही खादी समिति को भी क्यों न पुनर्जीवित किया जाए? हम लोग स्वयं करेंगे तो छोटी-बड़ी संस्था के प्रश्न उठेंगे। जो विरोध नहीं होना चाहिए वह भी उठ सकेगा।

आप कुछ लोग चोटी के, जयप्रकाश बाबू, दादा कृपालानी आदि गांधीजी की रचनात्मक प्रवृत्तियों को जीवित रखने, उन्हें व्यापक और सुदृढ़ बनाने के ख्याल से खादी ग्रामोद्योग समिति की स्थापना करें तो उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी, उसका स्थायित्व भी बढ़ेगा। यह सब आपके विचार के लिए लिख रहा हूं।

इस पत्र की कॉपी मैं जयप्रकाश बाबू, दादा कृपालानी आदि के पास भी भेज रहा हूं। आपके कुछ मंत्रियों के पास भी और अपने कुछ खादी कार्यकर्ता साथियों के पास भी ताकि 14 तारीख को हम जब मिलें तो इन प्रश्नों पर मुक्त चर्चा हो सके।

आपका
विचित्र भाई

विचित्र भाई अभिनंदन ग्रंथ से साभार। इसका प्रकाशन सन् 1989 में उनके अमृत महोत्सव के अवसर पर गांधी भवन लखनऊ से हुआ था।

*

टिप्पणियाँ

उत्तराखंड में कोलानाथ!

उत्तराखंड सरकार ने अप्रैल 2013 को कोकाकोला कंपनी को राजधानी देहरादून के पास कारखाना खोलने की अनुमति दे दी है। शीतल नदी के किनारे बसे छरबा गांव में 19 लाख रुपए प्रति बीघा के हिसाब से 368 बीघा जमीन उसे सोंपी जा रही है।

सरकार का कहना है कि छरबा में कोकाकोला कारखाना लगने से राज्य में कोई छह सौ करोड़ का निवेश होगा और इसमें एक हजार लोगों को रोजगार मिलेगा। लेकिन विदेशी कंपनी से करार और रोजगार दावों के बीच सरकार ने उन ग्रामीणों को इस प्रक्रिया का हिस्सा नहीं बनाया है, जिनसे जमीन लेकर यह सारा ताना-बाना बुना जा रहा है। छरबा गांव के लोगों को यह खबर भी अखबारों के माध्यम से ही मिली थी। जैसे ही इस समझौते की खबर फैली इसका विरोध भी शुरु हो गया है। सरकार जितनी बड़ी उपलब्धि बताकर इस समझौते को पेश कर रही थी, अब पर्यावरण के जानकार इसे उतना ही बड़ा खतरा बता रहे हैं।

प्रस्तावित संयंत्र राजधानी देहरादून से 32 किलोमीटर दूर शीतल नदी के किनारे लगाया जाएगा। 1659 परिवारों के छरबा गांव की आबादी है कोई दस हजार। खेती पर निर्भर यह गांव अप्रैल 2012 में केंद्रीय पंचायती राज मंत्रालय से आदर्श ग्राम पंचायत का पुरस्कार भी जीत चुका है। यह राज्य के कुछ अच्छे और आदर्श गांव में से एक है।

इस गांव को किसी सरकार ने या उसकी किसी योजना ने इस आदर्श स्थिति तक नहीं पहुंचाया। गांव के लोगों की एक पीढ़ी की मेहनत ने यह स्थिति तैयार की है। सेवानिवृत्त इंस्पेक्टर श्री चंदेल बताते हैं कि चालीस साल पहले तक हमारे गांव में पानी की भयंकर कमी थी। दर्जनों परिवार गांव से अपनी जमीन बेचकर कहीं और चले गए थे। लेकिन आज हमारे गांव में पर्याप्त पानी है। गांव में पर्याप्त पानी के पीछे गांव के लोगों का चार दशक से जारी संघर्ष और परिश्रम है।

आज सरकार ने जिस जमीन का सौदा कोकाकोला के साथ किया है, वह शीतल नदी के किनारे गांव के सौ मीटर के दायरे में है। गांव वालों को एक तो इस बात का गुस्सा है कि सरकार ने बिना उनसे बात किए जमीन का सौदा कर दिया और दूसरा कोकाकोला ने जहां-जहां अपनी परियोजना निर्मित की है वहां भयंकर प्रदूषण फैला है। भूजल के खूब दोहन के कारण उन सभी क्षेत्रों में पानी के लिए हाहाकार मचा है। धीरे-धीरे खेती की जमीन बंजर हुई है और बाद में तो इन सभी जगहों में कंपनी द्वारा किए गए रोजगार के दावे भी खोखले साबित हुए हैं।

यह कहा जा रहा है कि छरबा गांव में लगने वाले कोकाकोला प्लांट को यमुना नदी का पानी दिया जाएगा। पर लोग बताते हैं कि यमुना में पानी की पहले ही कमी है। उत्तर प्रदेश व हरियाणा राज्यों के दो दर्जन से अधिक जिले यमुना के पानी पर ही पेयजल और खेती के लिए निर्भर हैं। जिस आसन बैराज से कोकाकोला को पानी देने की बात

हो रही है, वह बैराज पर्यटन और पर्यावरणीय दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। इतना ही नहीं इस बैराज पर प्रति वर्ष विदेशी पक्षियों को देखने के लिए देशी-विदेशी पर्यटक जुटते हैं।

कोकाकोला को पानी दिए जाने के बाद बैराज से बिजली उत्पादन भी घट जाएगा। एक अनुमान है कि कोकाकोला संयंत्र को प्रतिदिन 2 लाख लीटर पानी की जरूरत पड़ेगी। सामाजिक कार्यकर्ता सुनीता राव का मानना है कि कंपनी यमुना से पानी लेने के साथ ही ट्यूबवेल लगाकर भी खींचेगी और फिर तो गांव में भूजल भी घट जाएगा। इसका सीधा मतलब है कि गांव में खेती, पशुपालन और पानी के स्रोत चौपट हो जाएंगे। साथ ही हमें पीने और सिंचाई के लिए भी पानी नहीं मिलेगा।

छरबा गांव से लगे सहसपुर, सेलाकुई इत्यादि क्षेत्रों में सरकार पहले ही उद्योग स्थापित कर चुकी है। अब उसकी नजर इस गांव पर है। सहसपुर के प्रधान सुंदर थापा भी छरबा गांव के लोगों को सहयोग का पूरा भरोसा दिलाते हैं। उनका कहना है कि सरकार को ऐसा काम करना चाहिए, जैसा जनता चाहती है।

नदी बचाओ अभियान के संयोजक सुरेशभाई ने छरबा गांव पहुंचकर कहा कि गांव वालों की मर्जी के बिना कोई परियोजना गांव में नहीं लगनी चाहिए। आज हमारी सरकारें विदेशी कंपनियों और विदेशी पूंजी के आगे नतमस्तक हैं। सरकार को यह स्पष्ट करना चाहिए कि उसने क्या कोकाकोला के साथ समझौता करने से पहले देश के अन्य भागों में लगी कोकाकोला कंपनियों के बुरे प्रभावों का अध्ययन कर लिया है? क्या राज्य सरकार ने इस परियोजना के लिए ग्राम पंचायत से कोई बातचीत की है? उन्होंने यह भी कहा कि यमुना का पानी उत्तर प्रदेश और हरियाणा में खेती और पेयजल के लिए प्रयोग होता है। ऐसे में राज्य सरकार को इन राज्यों को भी भरोसे में लेना चाहिए।

छरबा के ग्रामीणों ने पहले कभी ग्राम समाज की जमीन में गौवंश संरक्षण केंद्र, कृषि अनुसंधान प्रशिक्षण केंद्र जैसे अनेक उपयोगी केंद्र खोलने का आग्रह किया था। लेकिन सरकार ने इन सब प्रस्तावों को खारिज कर दिया था। सरकार ने गांव वालों को किसी तरह समझा बुझाकर सन् 2003 में दून विश्वविद्यालय की स्थापना के नाम पर गांव की 520 बीघा जमीन की स्वीकृति ले ली थी। अब उस जमीन में से 368 बीघा जमीन सरकार ने कोकाकोला को बेच दी है।

इस क्षेत्र के वरिष्ठ वैज्ञानिक डॉ. अनिल गौतम भी गांव के पास प्रस्तावित इस संयंत्र को खतरनाक मानते हैं। उनका कहना है कि कोकाकोला संयंत्र से निकलने वाला रसायन उपजाऊ जमीन को भी बंजर कर देता है। कोक के संयंत्र में जितना पानी एक दिन में भीतर से खींचा जाता है, उसका आधा भाग रसायन के रूप में बाहर छोड़ा जाता है। यह रसायन मिला पानी जमीन की सतह पर बहे या जमीन के भीतर जाए– दोनों ही स्थितियों में खतरनाक है। बनारस के मेहंदीगंज इलाके में सन् 2002 में कोकाकोला ने अपना संयंत्र लगाया था। वहां आज भूजल स्तर 50-60 फीट नीचे चला गया है।

ऐसे कारखाने लगवाने से आत्मनिर्भर बनाने वाला रोजगार तो विकसित हो नहीं सकता। हां खेती और पशुपालन चौपट होने से और भी बुरी नौबत आ जाएगी। लेकिन अभी तो सरकारें विकासनाथ, कोलानाथ की पूजा में लगी हैं। गांवों की खुशहाली किस में है, यह उन्हें दिखता नहीं।

प्रवीन कुमार भट्ट

*

पत्र

जुलाई-अगस्त अंक में तिलक जी के बारे में गांधी के विचार मैंने पहली बार पढ़े। गांधीजी का भाषा के प्रति लगाव इससे बेहतर तरीके से सामने आया। तिब्बत पर कुमार प्रशांतजी का आलेख तिब्बत चीन समस्या और भारत पर एक मार्गदर्शक है। तिब्बत पर नेहरू जी, लोकनायक व लोहिया के विचार राजनीतिक मतभेदों के बाद भी कितने एक हैं– यह समझने का मौका मिला। यह उन सभी की महानता बताता है। हिंसा ग्रस्त असम में शांति का छोटा-सा प्रयास अनुकरणीय है। सुनीलजी ने श्रमिक समस्या लेकर पाकिस्तान व बांग्लादेश पर खूब अच्छे से प्रकाश डाला है। हमारे मुल्क में अपने पारंपरिक हस्त ज्ञान के केन्द्रों अलीगढ़, मुरादाबाद, चंदेरी, भिवंडी आदि में होने वाले दंगे यहां के सिद्ध कारीगर को पलायन करने के लिए मजबूर कर देते हैं। जीवन की आपाधापी में ऐसी पठन सामग्री रेगिस्तान में नखलिस्तान की मानिंद सुख देती है।

पंकज चतुर्वेदी, सहायक संपादक,
नेशनल बुक ट्रस्ट, 5 नेहरु भवन,
वसंतकुंज इंस्टीट्यशनल एरिया-II, नई दिल्ली-70

*

'गांधी-मार्ग' के जनवरी-फरवरी 2013 के अंक में श्री राजगोपाल पी.वी. का आलेख 'खुफिया तंत्र और खुला काम' हकीकतन रोंगटे खड़े कर देता है। इस देश को अंग्रेजों की गुलामी से आजादी दिलाने के पश्चात् महात्मा गांधी ने कांग्रेस जनों से सरकार में शिरकत करने के बजाय विभिन्न रचनात्मक कार्य करने की नेक सलाह दी थी। वे 2-3 फरवरी 1948 को सेवाग्राम की बैठक में इस पर खुलकर अपने विचार रखने वाले थे। किंतु इससे पूर्व 30 जनवरी 1948 को ही शहीद हो गए। तत्पश्चात् पूज्य बापू की भावनानुसार संत विनोबा भावे के नेतृत्व में विभिन्न रचनात्मक कार्यों को अंजाम देने हेतु सर्व सेवा संघ व अखिल भारतीय सर्वोदय समाज की स्थापना की गई। उसी के माध्यम से तब से आज तक नव-समाज-रचना हेतु विभिन्न प्रवृत्तियों का संचालन हो रहा है। इससे जुड़े समस्त जन तपे-तपाये, सच्चे, निःस्वार्थ समाजसेवक थे और हैं, जिन्हें सत्ता ने कभी मोहित नहीं किया। देश के आम-जन में इन समाज-सेवकों का मान-सम्मान आज के तथाकथित राजनेताओं से कहीं अधिक है। श्री राजगोपाल पी.वी. ने एक कटु सत्य का नग्न रूप उजागर कर एक बड़ा उपकार किया है।

जब राष्ट्रीय स्तर के एक सामाजिक कार्यकर्ता के साथ खुफिया तंत्र का ऐसा घिनौना व्यवहार है, तब हम कल्पना कर सकते हैं कि देश के सुदूर गांव-ठाणी में सतत् मौन कार्यरत अकिंचन सामाजिक कार्यकर्ता के साथ यह खुफिया तंत्र कैसा व्यवहार करता होगा? यह सोच कर मुझ-सा अदना व्यक्ति तो सिहर उठता है।

सत्तर वर्ष की वय का यह अकिंचन वृद्ध अपने सार्वजनिक जीवन के अनुभव के आधार पर यह कह सकता है कि आज आम आदमी में इन रचनात्मक कार्यकर्ताओं के प्रति एक गहरी आत्मिक श्रद्धा का भाव है। यह कैसा दुर्भाग्य है कि हमारा खुफिया तंत्र हजारों-हजार करोड़ रुपए के घोटाले करने वाले मंत्री, तंत्री, पूंजीपतियों,

भू-माफियाओं की तो खुफियागिरी नहीं करता बल्कि राष्ट्र के दलित, दमित, शोषित, पिछड़े और जल-जंगल-जमीन के अपने नैसर्गिक अधिकारों से वंचित लोगों के उत्थान के लिए निःस्वार्थ सेवा करने वाले सामाजिक कार्यकर्ता को अपमानित, प्रताड़ित करने के मौकों की ताक में रहता है।

मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि आज के अखबार, टीवी भी राजनेताओं की तारीफ या खिलाफत और तरह-तरह के अपराधों की खबरों पर समय जाया करते हैं, उसके पास गणसेवकत्व पर आधारित सर्वोदय विचार या विभिन्न रचनात्मक प्रवृत्तियां चलाने वालों के सकारात्मक प्रचार-प्रसार के लिए कतई समय नहीं है, अन्यथा श्री राजगोपाल पी.वी. का यह आलेख गांधी-मार्ग के सिवाय अन्य पत्र-पत्रिकाओं में कोई स्थान क्यों नहीं पा सका? श्री राजगोपाल पी.वी. ने इस दुखती रग पर हाथ रखकर निःसंदेह एक साहसिक कार्य किया है। उन्होंने एक सामाजिक कार्यकर्ता की मौन पीड़ा को मुखरित किया है।

किशनगिरि गोस्वामी,
पोस्ट रामगढ़, जैसलमेर, राजस्थान।

*

जुलाई-अगस्त अंक में कुमार प्रशांत का आलेख 'तिब्बत, भारत और गांधी परंपरा' देश की स्मृति में सदा प्रकाशवान रहेगा। लेखक ने ठीक ही लिखा है कि बौद्ध-धर्म इस बात में एकदम अनोखा है– शायद अकेला ही है कि जिसकी जीवन-पद्धति और उपासना-पद्धति में कम से कम खाई है। वे लगभग एक-सी हैं। यह बात इस दृष्टि से हमारे ध्यान में आई नहीं कभी। गांधीजी ने भी अंत में यही कहा न कि 'मेरा जीवन ही मेरा संदेश है।'

इस आलेख में कई ऐसे महत्वपूर्ण बिंदु हैं जो तिब्बत के इतिहास को नए प्रकाश से भर देते हैंः

एक. सन् 1220 में चंगेज खान के बेटे ने तिब्बत अपने गुरु दलाई लामा को गुरु दक्षिणा में भेंट कर दिया।

दो. तिब्बत पर मंगोलियाई आक्रमण को अपने ऊपर खतरा मानकर चीनी सैनिकों ने तिब्बत में प्रवेश किया। उनका हमला नाकाम कर दलाई लामा को उनका तिब्बत सौंपकर वापिस चले गए।

तीन. सन् 1728 में आंतरिक कलह के समय चीन कुछ ज्यादा सख्ती से फिर तिब्बत में प्रवेश करता है। तिब्बत पर चीन का कभी आधिपत्य नहीं रहा है और न तिब्बत कभी उसका अंग रहा।

चार. सन् 1912 में पहली बार ऐसा हुआ कि ब्रिटिश भारत ने चीन को किनारे कर, सीधे तिब्बत से राजनयिक संबंध बनाए। 13वें दलाई लामा ने चीनी प्रभाव से मुक्त स्वतंत्र संप्रभु तिब्बत की घोषणा की और 1933 तक तिब्बत की यही स्थिति बनी भी रही।

पांच. सन् 1912 की पराजय चीन को सालती रही थी। माओ ने अपनी क्रांति के क्रम में जो लांग मार्च रखा था, उसके हेतुओं में एक यह भी था कि लांग मार्च तिब्बत को भी मुक्त करेगा। दलाई लामा की फौज ने उसका सख्त प्रतिरोध किया और अंततः माओ को तिब्बत छोड़ते हुए आगे जाना पड़ा।

छह. सन् 1947 के प्रारंभ में एशिया के स्वतंत्र देशों के समागम में नेहरूजी ने तिब्बत को भी ससम्मान दिल्ली बुलाया था। यह पहला और अंतिम अवसर था, जब ऐसे किसी अंतरराष्ट्रीय समागम में गांधीजी आए थे।

कुमार प्रशांत ने दलाई लामा के संबंध में रेखांकित करने योग्य यह बात भी कही है कि दलाई लामा अपनी साधना के बल पर किसी याचक या किसी आश्रित की स्थिति

से निकलकर एक मार्गदर्शक की भूमिका में आ गए हैं।

कुमार प्रशांत का यह मत सभी की आंख खोल देने वाला है कि जो तिब्बत कहीं नहीं है, वह तिब्बत आज दुनिया के हर कोने में है तो सत्याग्रह की इसी भूमिका के कारण। दुनिया की अंतरात्मा पर आज तिब्बत छाया हुआ है तो इसी एक आदमी की गांधी-रणनीति के कारण।

ठीक तिब्बत विचार की तरह इस आलेख को भी दुनिया के हर कोने में पहुंचना चाहिए।

कश्मीर उप्पल,
एम.आई.जी.-31,
प्रियदर्शिनी नगर, इटारसी, मध्य प्रदेश।

*

गांधी-मार्ग का नया अंक मिला। आपने अपनी टिप्पणी 'चीजें बिकती हैं, विचार नहीं में' एक दंभी कारोबारी की खिंचाई अपने विचारों की सिंचाई से की है, जो बिलकुल ठीक व उचित ही है।

आपका संभवतः ध्यान इस ओर गया हो कि किस तरह विगत कुछ वर्षों से खास तौर पर कला जगत में 'गांधी' को मात्र 'विषय' में घटा दिया है! चाहे चित्र हों, या नृत्य, सिनेमा या मंच, हर जगह गांधी-प्रदर्शन तो है लेकिन गांधी दर्शन मानो जैसे किसी सन्निपात से गुजर रहा हो!

आपका लकीर का फकीर!

मनीष पुष्कले,
एफ-1/8 ग्राउण्ड फ्लोर,
हौजखास एनक्लेव, नई दिल्ली-16

*

पिछले बरस का सितंबर-अक्तूबर का अंक एक मित्र ने कुछ समय पूर्व पढ़ने को दिया था। संपादकीय कुशलता पत्रिका के प्रायः हर पृष्ठ पर झलकती है। इसीलिए यह पत्र।

पुराना चावल में श्री कृष्णकुमार का लेख चार हजार रिक्तियां आज भी तरोताजा लगता है। हिन्दी भाषा और हिन्दी समाज को लेकर उनकी चिंता एक अलग तरह की चिंता है, जिस पर समूचे हिन्दी समाज को अपने पूर्वग्रहों से मुक्त होकर सोचना चाहिए। वस्तुतः जिस तरह से गांधी-मार्ग ने इस लेख का पुनर्प्रकाशन किया है वैसे ही बहुत सारी जीवित और मरती हुई पत्रिकाओं को इसे फिर से प्रकाशित करना चाहिए। अन्यथा ये रिक्त पद शायद ही कभी भरे जा पाएं।

रामस्वरूप दीक्षित,
टीकमगढ़, मध्य प्रदेश।

*

गांधी-मार्ग में प्रकाशित आलेखों का यह वैशिष्ट्य है कि उनमें बहुधा चिंगारी होती है। उद्वेलन होता है। चिंतन और व्यवहार के संदर्भ में सात्विकतापूर्ण अंतर्दृष्टि होती है। आलेखों को आद्योपांत पढ़ना लौह-चुंबक सदृश्य गुणानुरूप होता है। कुछ आलेख तो दीर्घकाल तक बेचैन बनाए रखते हैं।

मई-जून 2013 अंक में प्रकाशित हे भगवान प्लास्टिक और जड़ें बेचैन करते हैं। मेंढा गांव की गल्ली सरकार और यह अपराध नहीं कर्तव्य है तथा सात उंगलियों से काम करो लेख दिशाबोधक हैं। महाजन के घर में जन्मी एक मजदूर आत्मा प्रेरणास्पद है। गुंटकल स्टेशन पर विद्यार्थी से हुई बातचीत के बाद आत्म विश्लेषण 'संसार के हाथ बिक जाना' में जो निष्कर्ष गांधीजी देते हैं, नित्य जीवन में ऐसे अनेक कृत्य करने के बावजूद कम से कम मुझमें तो ऐसा मंथन कभी नहीं उपजा, उभरा!

कामना है कि गांधी-मार्ग की यह त्वरा बनी रहे।

भगवानदास अटलानी,
डी-183, मालवीय नगर, जयपुर-302017

*

Civil Society

हमें पढ़ें। हम आपको पढ़ते हैं।
घर बैठे अपनी प्रति हर महीने प्राप्त करें।

☐ एक वर्ष ₹ 600 ☐ दो वर्ष ₹ 950 ☐ तीन वर्ष ₹ 1,300
☐ संस्थाओं के लिए ₹ 1,000 एक वर्ष के लिए

नाम _____

पता _____

_____

फोन _____ मोबाईल _____

ईमेल _____

चैक इस नाम पर बनाएं: **CONTENT SERVICES & PUBLISHING PVT. LTD.**

पता: The Publisher, Civil Society, E-2144, Palam Vihar, Gurgaon, Haryana-122017

ईमेल:response@civilsocietyonline.com वैबसाईट: civilsocietyonline.com

फोन : 09811787772, 011-46033825

रोशनी का एक सफर

डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम
पूर्व राष्ट्रपति, भारत

शिवराज सिंह चौहान
मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश

राकेश कुमार
आई. ए. एस.
संयुक्त संचालक

अटल ज्योति अभियान

सबके घर सदैव बिजली

अटल ज्योति अभियान

भोपाल जिला 24x7 बिजली

भोपाल जिले में
अभियान का शुभारंभ करेंगे
माननीय
डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम
पूर्व राष्ट्रपति, भारत
एवं
श्री शिवराज सिंह चौहान
मुख्यमंत्री
मध्यप्रदेश

शुभारंभ समारोह
2 अप्रैल 2013
पूर्वान्ह 11.30 बजे
और
उपभोक्ता एवं पंचायत सम्मेलन
दशहरा मैदान, भेल, भोपाल

जबलपुर, मंडला, शहडोल, उमरिया, अनूपपुर एवं बुरहानपुर के बाद
अब भोपाल जिले को
24 घंटे
बिजली

वितरण अधिकारी

श्री बाबूलाल गौर, मंत्री
[illegible]
श्री बैजनाथ जोशी, सांसद एवं पूर्व मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश
श्री उमेश शर्मा, मंत्री, नगर पंचायन एवं पर्यावरण
श्री अनंतशेखर बुधवा, मंत्री, एवं
श्री रामेश्वर शुक्ल, मंत्री, उच्च एवं तकनिक शिक्षण
श्रीमती कुसुम मेहदे, सांसद, भोपाल
श्रीमती लोधा हिम्मत सिंह लोधन, अध्यक्ष, जिला पंचायत, भोपाल
श्री विवेक शर्मा, विधायक, भोपाल, भोपाल
श्री आरिफ अकील, विधायक, उत्तर क्षेत्र, भोपाल
श्री कृष्णमुरारी सिंह, विधायक, मध्य क्षेत्र, भोपाल
श्री रितेश डागा, विधायक, हुजूर, भोपाल
श्री आनंद रामलाल, विधायक, बैरसिया

रोशनी के फूल खिले

जिले दर जिले - मध्यप्रदेश

रजिस्टर्ड नं 4545 / 57

यहां देहातों में धान–देवता इनारी का मंदिर जरूर मिलेगा। एक और देवता जीजो हैं यहां। इनके पांव हमेशा कीचड़ में सने रहते हैं। कहते हैं कि एक बार जीजो का एक भक्त बीमार पड़ गया। भगवान अपने भक्तों का खूब ध्यान रखते थे। उसके खेत में जीजो देवता रात भर काम करते रहे। तभी से उनके पांव कीचड़ में सने रहने लगे।